संस्कृत व्याकरण
की
रूपरेखा
डॉ० यज्ञवीर

संस्कृत व्याकरण की रूपरेखा

संस्कृत व्याकरण
की
रूपरेखा

डॉ० यज्ञवीर
आचार्य, संस्कृत विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय,
रोहतक (हरियाणा)

BOOK
EASTERN EBL LINKERS

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली : : (भारत)

प्रकाशक :

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

H.O. : 5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली-110007

फोन : 23850287, 09811232913

Showroom : 4806/34, भरत राम रोड, दरियागंज, दिल्ली-110002

फोन : 23285413

e-mail : eblindology@gmail.com

eblinfo76@gmail.com

Website: www.eblindology.com

प्रथम संस्करण : 1982

द्वितीय संस्करण : 2019

मूल्य : ₹ 350:00

ISBN : 978-81-941656-3-7

SANSKRIT VYĀKARAṆA KI RŪPARAKHĀ

Dr. Yajan Veer

टाईप सैटिंग : अजय प्रिंटिंग वर्क्स, नई दिल्ली-110085

मुद्रक : आर. के. प्रिन्ट सर्वसज

SANSKRIT VYĀKARAṆA KI RŪPARAKHĀ

Dr. Yajan Veer
Ācārya, Deptt. of Sankrit,
Maharshi Dayanand University,
Rohtak (Haryana)

EASTERN BOOK LINKERS

DELHI : : (INDIA)

Publishers :
EASTERN BOOK LINKERS
H.Q. : 5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,
Delhi-110007
Ph. : 23850287, 9811232913
Showroom : 4806/24, Bharat Ram Road,
Daryaganj, New Delhi-110002
Ph. : 23285413
e-mail : eblindology@gmail.com
eblinfo76@gmail.com
Website: www.eblindology.com

Fiest Edition : 1982
Second Edition : 2019

Price : ₹ 350:00

ISBN : 978-81-941656-3-7

SANSKRIT VYĀKARAṆA KI RŪPARAKHĀ

Dr. Yajan Veer

Type Setting : Ajay Printing Works
Printed by : R.K. Print Services

प्राक्कथन

यह एक ऐतिहासिक एवं निर्विवाद सत्य है कि व्याकरण-शास्त्र का निर्माण तथा उसका भाषाशास्त्रीय अध्ययन सबसे पहले भारत में हुआ है। इस तथ्य को यूरोपीय विद्वानों ने भी निःसंकोच स्वीकार किया है, तथा उनके मत इस पुस्तक में यथास्थान दिये गये हैं। परन्तु व्याकरण-प्रणयन का कार्य यहाँ कब प्रारम्भ हुआ, तथा उसके आदि वैयाकरण कौन थे, प्रथम व्याकरण किस आचार्य की लेखनी लता से प्रसूत हुआ था, उसमें किस पद्धति का उपयोग हुआ था, उसकी शैली क्या थी, तथा उसकी रचना का समय क्या था, इत्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न आज भी संस्कृत-शोध-कत्ताओं एवं ऐतिह्यतत्त्वकोविदों के लिये चुनौती बने हुये हैं। इस दिशा में अभी और अनुसन्धान की आवश्यकता है। विशेषतया एम० ए० स्तर की परीक्षाओं में, संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास को विभिन्न विश्वविद्यालयों ने रखा हुआ है तथा उसका अध्ययनाध्यापन हो रहा है। परन्तु अभी तक, ऐसी अभीष्ट पुस्तक का सर्वथा अभाव रहा है जो आदिकाल से चले आ रहे संस्कृत व्याकरण के इतिहास की कड़ियाँ जोड़ सके। प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में एक प्रयास है।

इस पुस्तक का निर्माण विद्यार्थी समाज के सामने आने वाली कठिनाइयों को ध्यान में रख कर किया गया है। हमारे विश्वविद्यालय में भी संस्कृत एम०ए० द्वितीय वर्ष के संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास निर्धारित है–जिसके अध्ययन में विद्यार्थियों को पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है । उन्हीं के निरन्तर आग्रह के परिणमस्वरूप इस पुस्तक का निर्माण हो पाया है। अभी तक इस दिशा में जो कार्य हुये हैं, वे प्रायः विद्यार्थी समाज के लिये अनुपयुक्त सिद्ध हुए हैं। यह पुस्तक विद्यार्थी समाज को परीक्षारूपी वैतरणी से समय और श्रम को बचाते हुए पार कराने में समर्थ होगी–ऐसी मेरी धारणा है।

इस पुस्तक के लिखने में लेखक ने ऋग्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता, तैत्तिरीयसंहिता, वाजसनेयी संहिता, अथर्ववेद संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, पञ्चविंश ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, गोपथ ब्राह्मण, निघण्टु, निरुक्त, ऋग्वेद प्रातिशाख्य, सामप्रातिशाख्य, वाजसनेय-प्रातिशख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, अथर्ववेद, प्रातिशख्य के अतिरिक्त पाणिनि कृत 'अष्टाध्यायी,' कात्यायन कृत 'वार्त्तिक पाठ,' पतञ्जलि कृत 'महाभाष्य,' जयादित्य और वामन कृत 'काशिका,' जिनेन्द्रबुद्धि कृत 'न्यास,' हरदत्त कृत 'पदमञ्जरी,' भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय,' कैयट कृत, 'प्रदीप,' नागोजी भट्ट कृत 'उद्योत,' भट्टोजिदीक्षित कृत 'सिद्धान्तकौमुदी,' नागेश कृत 'परमलघुमञ्जूषा,' काशकृत्स्न कृत 'काशकृत्स्न व्याकरण,' युधिष्ठिरकृत 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास,' बेल्वल्कर कृत 'सीस्टम आफ संस्कृत ग्रामर,' विन्टरनिट्ज कृत 'भारतीय साहित्य का इतिहास,' कीथ कृत 'संस्कृत साहित्य का इतिहास, मैक्डानल कृत 'इण्डियाज् पास्ट,' वासुदेव शरण अग्रवाल कृत 'इण्डिया इज़ नोन टू पाणिनि,' मङ्गलदेव कृत 'भारतीय संस्कृति का विकास,' नाथूरामकृत 'जैन साहित्य और इतिहास ग्रन्थ, 'आदि ग्रन्थों का उपयोग किया है। अतः लेखक इन ग्रन्थों के विद्वान् लेखकों का हृदय से आभारी है।

मनुष्य अल्पज्ञ है, अतः वह सब कुछ जानने में सर्वथा असमर्थ रहा है और रहेगा। इसी हेतु, यदि इस पुस्तक में कुछ त्रूटियाँ रह गई हों, तो उनके सुधार के प्रत्येक सुझाव का स्वागत किया जायेगा तथा आगामी संस्करण में उपयोगी सुझावों के लिए विद्वानों का हृदय से आभार प्रकट किया जायेगा।

यज्ञवीर

फरवरी, 1982

विषय-सूची

भारत में व्याकरण-सम्बन्धी-विचार
GRAMMATICAL SPECULATIONS IN INDIA

संस्कृत का व्याकरण वाङ्मय बड़ा ही विशाल है । भारतवर्ष में व्याकरण की परम्परा अति प्राचीन मानी गयी है । वेद के छः अङ्गों में से व्याकरण को ही सर्वाधिाक महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना गया है–**'प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणम्।'** (महा० पस्पशह्निक)

एक ऐतिहासिक लेखानुसार, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का प्रारम्भ तथा विकास सबसे पहले भारतवर्ष में हुआ । संस्कृत व्याकरण शास्त्र की उत्पत्ति तथा विकास के प्राकृतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा व्यावहारिक तीन मुख्य कारण है । संस्कृत व्याकरण शास्त्र का प्रारम्भ प्राकृतिक कारणों से, व्याकरण का उद्‌भव धार्मिक कारणों से तथा विकास सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक कारणों से हुआ है ।

वेदों में व्याकरण सम्बन्धी विचार

संस्कृत व्याकरण शास्त्र का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ, इसका उत्तर निश्चित रूप से नहीं दिया जा सकता । इस सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य मत भिन्न रूप से दिए गए हैं । भारतीय परम्परा के अनुसार व्याकरण शास्त्र का आदि मूल वेद है। निस्सन्देह रूप से व्याकरण शास्त्र का उद्‌भव वैदिक युग से ही प्रारम्भ हो चुका था तथा इसके आधार पर शिक्षा, पदपाठ, प्रातिशास्त्र, निरुक्त एवं अन्य व्याकरणों का निर्माण हुआ ।

भारतीय परम्परानुसार संसार में सम्पूर्ण ज्ञान का आदिमूल वेद है । अतः स्वयंभुव भगवान् मनु ने वेद को सर्वज्ञानमय कहा है–**सर्वज्ञानमयी 'हि सः।'** (मनु० II. 7 मेधातिथि) अतः सभी शास्त्रों का आदिमूल वेद ही

व्याकरण का भी आदिमूल है । वेद के अन्दर–√मही, √अस्, √ध्वी, √नद्य, √पिब, √गच्छ्, √दुह्, √वस् आदि धातुओं के ठीक-ठीक प्रयोग करने का विद्वान् ऋषियों को पूर्णरूपेण ज्ञान था ।

निरुक्तकार यास्क ने 'चत्वारि वाक्' (ऋक्० II. 164.45) वैदिक मन्त्र की तथा शब्दशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्य पतञ्जलि मुनि ने–'चत्वारि वाक्,' (ऋक्० I. 164.45) 'चत्वारिश्शृङ्गा, (ऋक्० IV. 58.3) 'उत त्वः' (ऋक्० X. 71.4) 'सक्तुमिव' (ऋक्० X 71.2) एवं 'सुदेवोऽसि' (ऋक्० VIII. 69.12) इन पाँच वैदिक मन्त्रों की व्याकरण शास्त्रपरक व्याख्या की है । अतः वेद कही व्याकरण शास्त्र का आदि मूल है ।

व्याकरण शास्त्र के मूल वेद में 'व्याकरण' शब्द प्रयुक्त पाया जाता है । बाल्मीकीय रामायण से विदित होता है कि महाराज राम के काल में व्याकरण शास्त्र का सुव्यवस्थित पठन पाठन होता था । भारत युद्ध के समकालिन 'यास्कीय निरुक्त' में व्याकरण प्रवक्ता अनेक वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है । समस्त नाम शब्दों की धातुओं से निष्पत्ति दर्शाने वाला मूर्धाभिषिक्त शाकटायन व्याकरण भी यास्क से पूर्व बन चुका था । महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि के लेखानुसार अत्यन्त पुराकाल में व्याकरणशास्त्र का पठन पाठन प्रचलित था । इन प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि व्याकरण शास्त्र की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीनकाल में हुई । मीमांसक के मतानुसार, त्रेता युग के प्रारम्भ में व्याकरण शास्त्र अन्य ग्रन्थ रूप में सुव्यवस्थित हो चुका था । 'व्याकरण' पद जिस धातु से निष्पन्न है उस धातु का मूल अर्थ यजुर्वेद **(दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः** XIX. 77) में मिलता है । आचार्य यास्क के अनुसार–**'नामाख्यातोपसर्ग- निपाताश्च वैयाकरणाः'** अर्थात् आचार्य यास्कानुसार ऋषियों को वैदिक व्याकरण का पूर्ण ज्ञान था । इस प्रकार सर्वप्रथम व्याकरण शास्त्र का उद्‌भव तथा विकास हमें वेदों में दिखाई पड़ता है ।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में व्याकरण-सम्बन्धी विचार

वैदिक व्याकरण शास्त्र का उद्‌भव एवं विकास वेदों के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है । षड् वेदाङ्गों–**शिक्षा, व्याकरण, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष** तथा **छन्द** का निर्देश गोपथ ब्राह्मण, बौधायन धर्मसूत्र तथा रामायण

आदि में प्रायः मिलता है । पतञ्जलि मुनि ने भी यह आगमवचन उद्धृत किया है–**'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'** । इन षड् वेदाङ्गों में 'व्याकरण' सर्वप्रधान अङ्ग माना गया है । भर्तृहरि ने स्पष्ट कहा है–**'प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरण बुधाः ।'** पाणिनीय तन्त्र में उद्धृत अनेक संज्ञाओं में से कुछ संज्ञाओं का उल्लेख गोपथ ब्राह्मण में मिलता है, जैसे–

'ओङ्कारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकम्' किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गम्, किं वचनम्, कः विभक्ति, कः प्रत्ययः, कः स्वर उपसर्गो निपातः, किं वैयाकरणं, को विकारः, को विकारी, कतिमात्रः, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः कः संयोगः किं स्थाननादानुप्रदानानुकरणम् . . . ।

(गो० ब्रा० पू० I.24)

मैत्रायणी संहिता (तस्मात् षड् विभक्तयः I.7.3) में विभक्ति संज्ञा का तथा ऐतरेय ब्राह्मण में (सप्तधा वै वागवदत् VII 7) विभक्ति रूप से सप्तधा विभक्त वाणी का वर्णन मिलता है । शतपथ ब्राह्मण में यास्कीय परम्परा की पुष्टि का निर्देश है । प्रत्येक पद से धातु को खोज लेने की परम्परा वहाँ भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है । 'अर्थ की नित्यता' का यास्कीय सिद्धान्त वहाँ भी पूरी तरह से अनुकृत हुआ है ।

निघण्टु में व्याकरण-सम्बन्धी विचार

संस्कृत व्याकरण शास्त्र का विकास वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की अपेक्षा निघण्टु में अधिक हुआ है । निघण्टु व्याकरण शास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । वैदिक मन्त्रों की अर्थ शुद्धता को बनाए रखने के लिए निघण्टु एवं निरुक्त की रचना की गई । वैदिक व्याकरण के इतिहास में निघण्टु को कोष का प्रारम्भिक रूप कहा गया है जिसमें शब्दों को स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् रखा गया है । इन वैदिक शब्दों से धातु रूप आदि का पृथक्-पृथक् व्याख्यान किया जा सकता है । विद्वानों ने निघण्टु को वैदिक शब्द कोष का नाम दिया है । इसमें वैदिक शब्दों को क्रमशः रखा गया है । प्रारम्भ में बहुत से निघण्टुओं की रचना हुई थी परन्तु आज उनकी उपलब्धि नहीं है। मैक्डानल के अनुसार–यास्क के समय में पाँच निघण्टु उपलब्ध थे । किन्तु आजकल केवल एक निघण्टु उपलब्ध है, जिसको

आधार मानकर यास्काचार्य ने निरुक्त की रचना की है ।

निरुक्त में व्याकरण सम्बन्धी विचार

'निरुक्त' को वैदिक व्याकरण शास्त्र के विकास का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है । निरुक्त में भाषा वैज्ञानिक तत्त्वों का बहुत ही सुन्दर वर्णन देखने में आता है। विभिन्न धातुओं तथा शब्दों का निर्वचन 'निरुक्त' में किया गया है, यथा–धातु शब्द–**'धातुर्दधातेः'** √**धा** धातु से निष्पन्न है। सम्पूर्ण निरुक्त, निर्वचनशास्त्र ही है। निरुक्त की परिभाषा इस प्रकार दी गई–

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

अर्थात् वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णलोप और धातु का अर्थ विस्तार, इन पाँचों का शब्दों में निर्देशपूर्वक उल्लेख निरुक्त कहलाता है ।

यास्काचर्य निर्वचनीय शब्दों के तीन प्रकार मानते हैं–

1. **प्रत्यक्षवृत्ति**, यथा–'धातु' शबद की व्युत्पत्ति √**धा** (धारण करना) से की गई है ।
2. **परोक्षवृत्ति**, यथा–'राजा' की व्युत्पत्ति √**राज्** (दीप्तौ) से की जाती है ।
3. **अतिपरोक्षवृत्ति**, यथा–'रूप' की व्युत्पत्ति √**रुच्** (अच्छा लगना) से की जाती है ।

बहुत पहले से ही निरुक्तों की रचना प्रारम्भ हो गई थी । बहुत से वैदिक शब्दों के अर्थ की दृष्टि से अस्पष्ट हो जाने के कारण शब्दों की व्युत्पत्ति तथा अर्थ निश्चितता के लिए निरुक्तों की रचना की गई । आजकल एकमात्र यास्कीय निरुक्त उपलब्ध है। यास्कीय निरुक्त अपने से पूर्व के निरुक्तों में से सर्वप्रधान है। यास्काचार्यानुसार वेद के अध्ययन के लिए निरुक्त का अध्ययन करना आवश्यक है। निरुक्त व्याकरण शास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है ।

यास्काचार्य ने निरुक्त में पद के नाम आख्यात, उपसर्ग तथा निपात ये चार भाग बताए है । गार्ग्य तथा शकटायन के शब्दों को धातुज-अधातुज मानने के विवाद में यास्क ने शाकटायन के शब्दों को धातुज मानने के पक्ष

का समर्थन किया है ।

भारतीय व्याकरण शास्त्र के उद्‌भव तथा विकास का पूर्ण रूप से विचार कर लेने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि–

वेदों को हम चाहे मानें अथवा अनित्य, चाहे पौरुषेय मानें अथवा अपौरुपेय, भाषा के प्रश्न पर विचार करने का कार्य वैदिक युग में ही प्रारम्भ हो गया था । संहिता तथा ब्राह्मण काल तक वह विचारणीय परम्परा पर्याप्य विकसित हो गई थी । अतः व्याकरण अथवा भाषा पर विचारणीय परम्परा के आधार पर सर्वप्रथम पदपाठ, शिक्षा, प्रातिशाख्य, निघण्टु एवं निरुक्तादि की रचना हुई । तत्पश्चात् इन सबके आधार पर व्याकरणशास्त्र की रचना हुई ।

प्रातिशाख्य और उनका प्रतिपाद्य विषय
PRĀTIŚKHYAS AND THEIR SUBJECT-MATTER

भाषा अथवा व्याकरण विषयक चिन्तन की सुदीर्घ परम्परा के आधार-भूत तत्त्व पदपाठ तथा शिक्षा के पश्चात् प्रातिशाख्यों का स्थान आता है । प्रातिशाख्यों में मन्त्रों की ध्वनियों तथा पदों का विवेचन किया गया है । इसके साथ-साथ संज्ञाओं का भी उल्लेख हुआ है । यद्यपि प्रातिशाख्यों में व्याकरण के सब अङ्ग नहीं मिलते तथापि प्रातिशाख्यों को 'वैदिक चरणों का व्याकरण' कहा जाता है ।

प्रातिशाख्य शब्द का अर्थ है–

शाखां शाखां प्रति प्रतिशाखम्, प्रतिशाखेषु भवं प्रातिशाख्यम्। अर्थात् जिसमें वेद की एक एक शाखा के नियमों का वर्णन हो, वह प्रातिशाख्य कहलाता है। प्राचीन काल में 'प्रातिशाख्य' शब्द को 'चरण' अर्थ में लिया जाता था । 'चरण' एक प्रकार की शिक्षा संस्थाएँ थीं जिसमें वेद की शाखाओं का अध्ययन होता था । वेद की विभिन्न शाखाएँ पुनः उपशाखाओं में विभक्त थीं । प्रातिशाख्यों की रचना भिन्न-भिन्न शाखाओं के मन्त्रों के उच्चारण में आपसी भिन्नता के कारण उसके अध्ययन तथा विवेचन के लिए हुई थी । प्राचीन ग्रन्थों में **'पार्षद'** तथा **'पारिषद'** नाम प्रातिशाख्यों का मिलना है। आचार्य यास्क ने भी कहा है–

'पदप्रकृतीनि सर्वचरणाना पार्षदानि ।' (निरुक्त I.17)

आचार्य पतञ्जलि का कहना है–**'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्।'** (महा०VI, 1.14) भट्ट कुमारिल प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध चरणों के साथ मानता है। भट्ट कुमारिल के महानुसार–

''धर्मशास्त्राणां गृह्यग्रन्थानां च प्रातिशख्यलक्षणवत् प्रतिचरणं

पाठ-व्यवस्थोपलभ्येते।'' अर्थात् धर्मशास्त्र और गृह्यग्रन्थों की भी प्रातिशाख्य के समान प्रतिचरण व्यवस्था देखी जाती है ।

आज की अपेक्षा पहले प्रातिशाख्यों की संख्या अधिक थी । आज केवल शौनक-कृत ऋक् प्रातिशाख्य, कात्यायनकृत शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य, कृष्णायजुः के तैत्तिरीय और मैत्रायणी प्रातिशाख्य, सामवेद का पुष्पसूत्र और शौनक प्रोक्त अथर्व प्रातिशाख्य ही उपलब्ध हैं । इनके अतिरिक्त ऋग्वेद के आश्वलायन, शांखायन तथा बाष्कल प्रातिशाख्य उल्लेखनीय हैं । इनमें से कुछ प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीन हैं । इन प्रातिशख्यों में से ऋक् प्रातिशाख्य विशेष महत्त्व रखता है । कई प्रातिशाख्यों पर उव्वट द्वारा जो भाष्य लिखे गए हैं उनमें से ऋक्, प्रातिशाख्य का भाष्य सबसे अधिक महत्त्व रखता है। प्रातिशाख्यों पर अनेक व्याख्यान ग्रन्थ भी लिखे गए परन्तु उनसे मूल स्पष्ट नहीं होता ।

डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने प्रातिशख्यों की रचना का काल ई० पूर्व 500 से 150 के मध्य माना है, किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक प्रभृति विद्वान् प्रातिशाख्यों की रचना विक्रम संवत् से 3000 वर्ष पूर्व मानते हैं । अतः प्रातिशाख्यों के रचनाकाल के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना असम्भव है ।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध ऐन्द्र सम्प्रदाय से है । परन्तु यह मत काल्पनिक माना जाता है तथा प्रातिशाख्यों को ऐन्द्र सम्प्रदाय का मानने का यह कारण बताया जाता है कि ऐन्द्र सम्प्रदाय के कातन्त्र में अक्षर समाम्नाय का पाठ नहीं है और प्रातिशाख्यों में भी अक्षर समाम्नाय का पाठ निर्देशित नहीं है । अतः प्रातिशाख्य पृथक्-पृथक् शाखाओं पर न लिखे जाकर स्वस्व चरणगत सभी शाखाओं को दृष्टि में रखकर लिखे गए हैं ।

पाणिनीय सम्प्रदाय
THE SCHOOL OF PĀṆINI

पाणिनि का परिचय–आचार्य पाणिनि संसार के अन्य वैयाकरणों में से सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण माने जाते हैं। आचार्य पाणिनि की रचना **'अष्टाध्यायी'** एक अनुपम निधि है। प्रत्येक विद्वान् इसकी प्रशंसा करता है। आचार्य पाणिनि की प्रतिभा का चमत्कार, उनकी महत्त्वपूर्ण देन अष्टाध्यायी के समान अन्य कोई विश्व साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। अष्टाध्यायी की विशेषता उसकी पूर्णता में है। भारतीय प्राचीन आचार्यों की अद्‌भुत प्रतिभा को बतलाने वाला यह एक अनुपम ग्रन्थ है। इससे देववाणी भी परम गौरवान्वित है तथा इससे समस्त वाङ्मय प्रकाशित हैं। इस प्रकार संस्कृत व्याकरण के इतिहास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका उदय उस समय हुआ जब वैदिक भाषा का युग समाप्ति की ओर था। ऐसी अनुपम निधि की रचना करने वाले आचार्य पारिणनि के अतिरिक्त अन्य कोई भाषाविज्ञानी आगे नहीं आया। इसी आशय को आचार्य ब्लूमफील्ड ने निःसंकोच स्वीकार किया है।

"Indo-European Comparative Grammar had and has at its service only one complete description of a language, the grammar of Pāṇini, for all other Indo-Europeon languages it had only the traditional grammars of Greek and Latin, woefully incomplete and unsystematic. . . For no language of the past has a record comparable to Pāṇini's record of his mother tongue, nor is it likely that any language spoken today will be so perfectly recorded."

—L.Bloomfield : Language, v. 270 ff.

विविध नाम–पाणिनि के आठ नाम गिनाए गए हैं–1. **दाक्षीपुत्र**, 2. **शालातुरीय**, 3. **शालङ्कि**, 4. **आहिक**, 5. **पाणिन**, 6. **पाणिनेय**, 7. **पणिपुत्र**, और 8. **पाणिनि** । इन आठ नामों में से **'दाक्षीपुत्र'**–और **पाणिनि** ये दो नाम प्रसिद्ध हैं । इनमें से कुछ नाम माता-पिता, गोत्र, जन्मस्थान आदि से भी सम्बन्ध रखते हैं ।

1. **दाक्षीपुत्र**–'दाक्षीपुत्र' नाम का उल्लेख पतञ्जलि के 'महाभाष्य' **सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः** I. 1–20, में, समुद्रगुप्त विरचित 'कृष्णचरित' में **दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापदुर्मीमांसकाग्रणीः**, मुनिकवि वर्णन, श्लोक–16, में, श्लोकात्मक 'पाणिनीय शिक्षा' शङ्करः **शाङ्करीं प्रादाद् दाक्षीपुत्राय धीमते** श्लोक-56 में तथा पुरुषोत्तमदेव के 'त्रिकाण्ड शेष' **पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षीपुत्रः** में मिलता है ।

2. **शालातुरीय**–पाणिनि के लिए 'शालातुरीय' नाम का निर्देश वलभी के ध्रुवसेन द्वितीय के संवत् 310 के **ताम्रशासन राज्यसालातुरीय-तन्त्रयोरुभयोरपि निष्णातः** (यु० मी० सं० व्या० इ०), शीलादित्य सत्तम के लेख, फ्लीट : **गुप्तशिलालेख**, (पृ० 175) भामह के काव्यालंकार **शालातुरीयपदमेतदक्रमेण**–VI. 6.2 काशिका विवरण पञ्जिका **शालातुरीयेण प्राक्ठञश्छ इति नोक्तम्** V. 1.1., वर्धमानकृत **'गणरत्नमहोदधि' शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनि** P. 1. तथा पुरुषोत्तमदेव के 'त्रिकाण्डशेष' में पाया जाता है ।

3. **शालङ्कि**–'शालङ्कि' को पितृव्यपदेशज नाम माना गया है । पाणिनि के लिए 'शालङ्कि' नाम का प्रयोग पुरुषोत्तमदेव के 'त्रिकाण्डशेष' और 'केशवकोष' के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता । महाभाष्य में **'शालङ्केर्यूनश्छात्राः शालङ्का'** (IV.1.90.165) पाठ उप्लब्ध होता है ।

4. **आहिक**–पाणिनि के लिए प्रयुक्त 'आहिक' पद पुरुषोत्तमदेव के 'त्रिकाण्डशेष' और 'केशवकोषों' के अतिरिक्त अन्यत्र कही भी उपलब्ध नहीं होता ।

5. **पाणिन**–'पाणिन' नाम का उल्लेख 'काशिका' (VI.2.14) तथा चान्द्रवृत्ति (II. 2.68) में मिलता है । यह शब्द 'पाणिन्' शब्द से अपत्य अर्थ में अण प्रत्यय लगने से सिद्ध होता है । यह अष्टाध्यायी (VI.4.165)

में भी निर्देशित किया गया है । युधिष्ठिर मीमांसक के मतानुसार, पाणिनीय शब्द की मूल प्रकृति भी 'पाणिन' अकारान्त शब्द है । उससे (छ) ईय प्रत्यय लगकर पाणिनीय शब्द निष्पन्न हुआ है । इसी हेतु, महाभाष्य में उल्लिखित **'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्'** वचन अर्थ-प्रदर्शनपरक है विग्रह प्रदर्शक नहीं ।

6. **पाणिनेय**–'पाणिनेय' नाम का प्रयोग श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा के याजुष पाठ में उपलब्ध होता है; **''दाक्षीपुत्रः पाणिनेयो येनेदं व्याहृतं भुवि ।''** (p. 38) पाणिनीय शिक्षा की शिक्षा प्रकाशनाम्नी व्याख्या में लिखा है–**'पाणिनेय इति पाठे शुभ्रादित्वं कल्प्यम्'** अर्थात् पाणिनेय रूप की निष्पत्ति 'शुभ्रादिभ्यश्च' (अष्टा० IV. 1.123) सूत्र प्रतिपादित गण को आकृतिगण मानकर की जानी चाहिए ।

7. **पणिपुत्र**–'पणिपुत्र' शब्द का प्रयोग 'यशस्तिलकचम्पू' में मिलता है; यथा **'पणिपुत्र इव पदप्रयोगेषु'** । (p. 236)

8. **पणिनि**–यह ग्रन्थकार का लोकविश्रुत नाम है। यह नाम अधिक प्रचलित, विख्यात एवं प्रामाणिक है । कात्यायन और पतञ्जलि ने भी 'पाणिनि' नाम का प्रयोग किया है । इस नाम की व्युत्पत्ति के विषय में दो विभिन्न मत हैं–

(क) **पाणिनोऽपत्यमित्यण् पाणिनः । पाणिनस्यापत्यं युवेति इञ् पाणिनिः** । (कैयट महा० प्रदीप I.1.73) 'पणिन्' से अपत्य अर्थ में 'अण' होकर 'पाणिन' और फिर उससे अपत्यार्थ में 'इञ्' होकर 'पाणिनि' शब्द बनता है ।

(ख) 'पाणिन्' नकारान्त का पर्यायवाची 'पाणिन' अकारान्त स्वतन्त्र शब्द है । उससे 'अत इञ्' (अष्टा० IV. 1.95) सूत्र से 'इञ्' होकर पाणिनि शब्द सिद्ध होता है । यही द्वितीय मत अधिक उपयुक्त माना गया है ।

जीवन–पाणिनि के शालातुरीय नाम के आधार पर पाणिनि का जन्म गन्धार के शलातुर ग्राम में हुआ माना जाता है । जैन लेखक वर्धमान गणरत्नमहोदधि में 'शलातुरीय' की व्युत्पत्ति इस प्रकार कहते हैं–

क्षलातुरो नाम ग्रामः, सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयः तत्रभवान्

पाणिनिः। (पृ० 1) । आचार्य पतञ्जलि के महाभाष्य में उल्लिखित पाणिनि के 'दाक्षीपुत्र' नाम के आधार पर पाणिनि की माता को 'दक्षकुल' का माना गया है । किन्तु 'दाक्षी' पद गोत्र प्रत्ययान्त होने के कारण पाणिनि की माता का नाम 'दाक्षी' निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । परन्तु दक्षों के कुल की कन्या होने के कारण पाणिनि की माता का नाम 'दाक्षी' तथा पाणिनि का नाम 'दाक्षीपुत्र' लिया गया है ।

आचार्य पाणिनि के 'शलङ्कि' नाम के आधार पर पाणिनि के पिता को 'शलङ्क' नाम से तथा पाणिनि को शालङ्कि नाम से अभिहित किया गया है । वास्तविक रूप में पाणिनि के पिता का नाम 'पाणिन्' था । हरदत्त इस की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलाते हैं–

पणोस्यास्तीति पणी, तस्यापत्यं पाणिनः, पाणिनस्यापत्यं पणिनो युवा पाणिनिः । (पदमञ्जरी भाग 2, पृ० 14)

प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार 'दाक्षी' और 'दाक्षायण'–ये दो नाम संग्रहकार व्याडि के हैं। जो कि पाणिनि के मामा थे । पाणिनि के गुरु आचार्य वर्ष थे। कथासरित्सागर और बृहत्कथामञ्जरी के अनुसार, पाणिनि वर्ष आचार्य के मन्दबुद्धि छात्र थे । अतः पाणिनि तपस्या करने हिमालय पर चले गए और वहाँ शिव की आराधना करके नवीन व्याकरण प्राप्त किया । नन्दवंश के सम्राट् पाणिनि के मित्र थे अतः सम्राट् ने उनके शास्त्र को बहुत अधिक सम्मानित किया । काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने लिखा है–"**श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा–'अत्रोपवर्षवर्षाविह पारिनिपिङ्गलाविह व्याडिः। वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्नुः॥**" (अध्याय 10)

इस कथन से ज्ञात होता है कि पाणिनि ने शास्त्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण होकर पर्याप्त यश अर्जित किया था । पाणिनि आचार्य बचपन से ही सभी विषयों की पर्याप्त जानकारी रखते थे (ह्वेनसङ्ग)। पाणिनि ने बोलचाल की भाषा के अशुद्ध प्रयोगों एवं नियमों में सुधार के लिए अनेक शब्दों का संग्रह करके एक सहस्र श्लोकों का एक व्याकरण गन्थ बनाया था। इस व्याकरण ग्रन्थ को बहुत ही सम्मान मिला ।

पञ्चतन्त्र में किसी प्राचीन ग्रन्थ से एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसमें पाणिनि की मृत्यु के कारणों का उल्लेख है । इसी श्लोक से विदित

होता है कि पाणिनि की मृत्यु सिंह के द्वारा हुई थी: ''**सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणन्। प्रियान् पाणिनेः, मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्। छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्, अज्ञानावृत्तचेतसां मतिमतां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ॥**'' (पञ्चतन्त्र, मित्रसम्प्राप्ति, श्लोक 36) वैयाकरण निकाय में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि पाणिनि का देहावसान त्रयोदशी को हुआ था । मास और पक्ष की ठीक-ठीक जानकारी का अभाव होने के कारण पाणिनीय वैयाकरण प्रत्येक त्रयोदशी को अध्ययन अध्यापन नहीं करते हैं। यह परम्परा आजकल भी यत्र तत्र (काशी, पूना) आदि स्थानों में देखने को मिलती है ।

काल—संस्कृत साहित्य के इतिहास के महत्त्वपूर्ण प्रश्न 'पाणिनि के काल' पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है । पाणिनि के काल के विषय में मतैक्य नहीं है। पाश्चात्य एवं कतिपय भारतीय विद्वानों ने पाणिनि को सातवीं शती ईसा पूर्व से लेकर चतुर्थ शती ईसा पूर्व तक माना है। गोल्डस्टुकर के अनुसार, पाणिनि सातवीं शती ई० पूर्व हुए थे । युधिष्ठिर मीमांसक पाणिनि का समय महाभारत के दो सौ साल बाद अर्थात् 2900 विक्रम पूर्व मानते हैं ।

इन विभिन्न मतों से यह विविद होता है कि अधिकांश पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान् पाणिनि का समय सातवीं शती से चौथी शती ई० पूर्व तक के युग में मानते हैं । पांचवी शती ईस्वी पूर्व के पक्ष से बहुमत हैं । पाणिनि के काल के सम्बन्ध में व्याकरण शास्त्र और महाभाष्य के मार्मिक ज्ञाता गोल्ड स्टुकर का कहना है कि, ''पाणिनि के काल के विषय में कल्पना करने की अपेक्षा इस बात की छानबीन से अधिक सफलता मिलेगी कि पाणिनि के ऐतिहासिक उल्लेखों का ओरों के साथ आपेक्षिक सम्बन्ध क्या है ।''

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने उपर्युक्त मतों की समीक्षा करते हुए लिखा है कि, ''हमारी सम्मति में इस विषय में जो भारतीय अनुश्रुति है, वह सत्य परम्परा पर आश्रित जान पड़ती है, अर्थात् पाणिनि किसी नन्दवंशी राजा के समकालीन थे । यह समय पाँचवीं शती ई० पू० के मध्य भाग में था ।'' (पाणिनिकालीन भारतवर्ष p. .469.70)

पाणिनि के काल के सम्बन्ध में किसी भी निर्णय पर पहुँचने के लिए

पाणिनीय सामग्री की साक्षी को एकमात्र आधार मानना चाहिए। पाणिनि के काल के निर्णय के लिए पाश्चात्य और उनके भारतीय अनुयायियों के उल्लिखित प्रमाणों में से निम्नलिखित प्रमाण मुख्य हैं–

1. बौद्ध एवं ब्राह्मण साहित्य में प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार पाणिनि किसी नन्दवंशीय राजा के समकालीन थे। सोमदेव ने कथासरित्सागर में और क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामञ्जरी में पाणिनि के नन्दराजा की सभा पाटलिपुत्र के जाने का वर्णन किया है। राजशेखर ने भी पाणिनि का सम्बन्ध पाटलिपुत्र को शास्त्रकार परीक्षा से माना है। पाटलिपुत्र में इस प्रकार की विद्वत् सभा यूनानी राजदूत मेगस्थने के समय में चौथी शती ईस्वी पूर्व में हुई थी। तारानाथ के अनुसार, नन्दवंशी सम्राट्, महापद्मनन्द के पिता नन्द पाणिनि के मित्र थे। ये ही पाणिनि के समकालीन और मगधवंश के सम्राट् थे, जिनका समय पाँचवीं शती ई० पूर्व के मध्य में था।

2. बौद्ध भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त 'श्रमण' शब्द का उल्लेख अष्टाध्यायी के 'कुमारः श्रमणदिभिश्च' (II.1.70) सूत्र में पाया जाता है। मखिल गोसाल बुद्ध का समकालीन था। अतएव बुद्ध का जन्म पाणिनि से पूर्व हो चुका था। बौद्ध धर्म से सम्बन्धित निर्वाण, कुमारी श्रमणा, संचीवरयते और निकाय आदि कुछ धार्मिक संघ थे जिनमें औत्तराधर्म का अभाव था। बुद्ध के पश्चात् बौद्ध धर्म विकसित हुआ। संघ के सभी सदस्य विनय के नियमों को मानते थे। अतः समता के आधार पर एक संघ बना जिसमें औत्तरार्ध अर्थात् किसी के ऊँचे और किसी के नीचे होने का भाव बिल्कुल न रह गया था। इन संस्थाओं से विदित होता है पाणिनि का काल बुद्ध के अनन्तर होना चाहिए।

3. बुद्ध के समकालिक आचार्य मखलि गोसाल के लिए प्रयुक्त 'मस्करी' शब्द को पाणिनि ने **''मस्करमस्करिणो वेणुपरिव्राजकयोः''** (अष्टा० VI. 1.154) सूत्र में दिखलाया है। पतञ्जलि के महाभाष्य में भी मखलि गोसाल आचार्य को मस्करी परिव्राजक कहने का संकेत मिलता है। **हर्नली** के मतानुसार, गोपाल का समय 500 ई० पूर्व के लगभग था। भगवती सूत्र के अनुसार गोसाल ने सावत्थी में मृत्यु से 16 वर्ष पूर्व अपने मत की स्थापना की थी। यह माना जाता है कि मंखलि गोसाल की मृत्यु 500 ई० पूर्व के कुछ बाद हुई थी। इससे पता चलता है कि 500 ई० पूर्व

पाणिनि के काल की पूर्व मर्यादा थी ।

4. वेबर के मतानुसार, क्षुद्रक मालवों की सेना, जिसने सिकन्दर को पराजित करके वापिस लौटाया था, उल्लेख पाणिनि के खण्डिकादिगण (अष्टा०. IV.2.45) में उल्लिखित **'क्षुद्रकमालवात् सेनासंज्ञायाम्'** गण सूत्र में मिलता है । अतः वेबर के मतानुसार, पाणिनि का समय सिकन्दर के बाद होना चाहिए । वेबर का कहना है कि प्रायः क्षुद्रक मालवों का आपस में मेल न था । केवल सिकन्दर के प्रतिरोध के अवसर पर क्षुद्रक-मालवों की सेना संयुक्त हो गई थी । वास्तव में क्षुद्रक-मालवों का यह सम्बन्ध सिकन्दर वाली घटना से बहुत पहले से था तथा पाणिनि के समय में लोकविदित था । इसी कारण **'क्षुद्रकमालवात्सेनासंज्ञायाम्'** सूत्र की रचना हुई । भाष्य में यह उल्लिखित है कि क्षुद्रकों ने किसी की सहायता के विना अकेले युद्ध किया था–**'एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम्, असहायैरित्यर्थः'** इससे यह निश्चित होता है कि पाणिनि और यूनानी लेखक दोनों के अनुसार, संयुक्त क्षौद्रक मालवी सेना का अस्तित्व सिकन्दर के पूर्व से चला आता था ।

5. पाणिनि की अष्टाध्यायी में **'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवन मातुलायाचार्यणमानुक्'** (अष्टा० IV.1.14) सूत्र में 'यवन' शब्द का वर्णन आता है । इसके आधार पर कीथ का मत है कि पाणिनि सिकन्दर के भारत आक्रमण के बाद हुए । 'यवन' और उनकी लिपि 'यवनानी' पाणिनि के समय का निर्णय करने के लिए दो महत्त्वपूर्ण आधार हैं । 'यवनानी' शब्द के विषय में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कहना है कि भारतीय लोग सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व भी यवन जाति से परिचित थे । युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार, यवन जाति मूलतः अभारतीय नहीं है । **'यवनाल्लिप्याम्'**–(काशिका IV.1.49) के एक अन्य वार्तिक के आधार पर कीथ पाणिनि को सिकन्दर आक्रमण के पश्चात् मानता है ।

6. ब्राह्मण और उपनिषदों के समय केवल गोत्रनामों का प्रचार था । मौर्ययुग में नक्षत्र नामों की प्रथा थी। बौद्धग्रन्थों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि उस समय व्यक्तिगत विशिष्ट नामों के स्थान पर प्रायः गोत्रनामों का व्यवहार होता था । पाणिनि भी एक गोत्र है । बौद्धग्रन्थ मञ्जुश्री मूलकल्प में लिखा है–**"तस्याप्यन्यतमः सख्यः पाणिनिर्माण**

माणवः'' अर्थात् महापद्म नन्द का मित्र पाणिनि नाम का माणव था । इस प्रमाण के आधार पर पाश्चात्य विद्वान् तथा भारतीय विद्वान् सहमत हैं, लेकिन पाणिनि नाम की अनेक उपाधियाँ होने से इस प्रमाण में दम नही है ।

7. राजशेखर ने काव्यमीमांसा में पाटलिपुत्र में होने वाली शास्त्रकार परीक्षा, का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उस परीक्षा में वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, पिङ्गल, व्याडि, वररुचि, पतञ्जलि आदि ने उत्तीर्ण होकर यश प्राप्त किया था (का० मी० अध्याय 10)। महाराज उदयी ने कुसुमपुर नाम से पाटलिपुत्र की स्थापना की थी। (वायुपुराण 99.318)।

इन सभी प्रमाणों के आधार पर पाणिनि का काल चतुर्थी शती ईसा पूर्व स्थापित किया गया है । इन प्रमाणों के अतिरिक्त साहित्यि उल्लेखों की साक्षी, पाणिनीय मुद्राओं की साक्षी तथा राजनैतिक सामग्री आदि पाणिनि काल के निर्धारण में सहायक हैं ।

अन्तः साक्ष्य–पाणिनि के काल निर्धारण में अन्तः साक्ष्य को भी दृष्टिगत रखना चाहिए–

I. बुद्धकाल में संस्कृत भाषा जनसाधारण की भाषा न थी, परन्तु इसके विपरीत पाणिनि की अष्टाध्यायी में जनता के व्यवहारोपयोगी प्रयोगों का विवरण मिलता है ।

II.पाणिनीय अष्टाध्यायी के अनुसार, संस्कृत भाषा केवल जनसाधारण की ही भाषा न थी । अपितु वैदिक भाषा के समान लोकभाषा में उसका प्रयोग होता था । पाणिनि के **'विभाषा भाषायाम्'** (अष्टा० VI.1.181) व **'उदक् च विपाशः'** (अष्टा० IV.2.74) इन दो सूत्रों का सम्बन्ध लोकभाषा से है । लोकभाषा में सूत्रों की रचना करने वाले आचार्य पाणिनि का काल अन्तिम शाखा प्रवचनकाल से अनतिदूर होना चाहिए । अन्तिम शाखा प्रवचनकाल अधिक भारतयुद्ध से 100 वर्ष उत्तर तक है । अतः पाणिनि का काल भारतयुद्ध से 200 वर्ष से अधिक अर्वाचीन नहीं हो सकता ।

संक्षेप में, पाणिनि ग्रन्थ के अन्तः साक्ष्यों तथा बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि पाणिनि का काल लगभग भारतयुद्ध से 200 वर्ष पश्चात् 2900 विक्रम पूर्व है । किसी भी अवस्था में पाणिनि

भारतयुद्ध से 300 वर्ष से अधिक उत्तरवर्ती नहीं है ।

पाणिनि का महत्त्व–

वर्तमान समय में उपलब्ध पाणिनि का व्याकरण-शास्त्र संसार का सबसे प्राचीन व्याकरण एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । पाणिनि ने अष्टाध्यायी नामक व्याकरण शास्त्र की रचना की, जो कि अपनी विशालता, क्रमबद्धता एवं सम्पूर्णता के कारण भारतीय मस्तिष्क की उसी प्रकार की सविशेष कृति है जिस प्रकार पर्वत पर उत्कीर्ण वेरूल क्षेत्र का विशाल कैलाश मन्दिर। पाणिनि की कृति अष्टाध्यायी ने भारत को अत्यधिक गौरव प्रदान किया है । पाणिनि ने व्याकरण शास्त्र की जिस रीति को प्रचलित किया, उस रीति के द्वारा संस्कृत भाषा के सब अङ्ग प्रकाशित हुए। संस्कृत भाषा पर पाणिनि का प्रभाव अमिट है ।

पाणिनि अष्टाध्यायी का प्रभाव पश्चिमी तथा भारतीय विद्वानों पर बहुत अधिक पड़ा । वेबर, गोल्डस्टुकर आदि पाश्चात्य विद्वानों को पाणिनीय अष्टाध्यायी ने प्रभावित किया । वेबर ने संस्कृत भाषा के इतिहास में अष्टाध्यायी को सभी देशों के व्याकरण ग्रन्थों में इसलिए सर्वश्रेष्ठ माना है क्योंकि उसमें बहुत बारीकों से धातुओं और शब्दरूपों की छानबीन की गई है । गोल्डस्टुकर के मतानुसार पाणिनि शास्त्र संस्कृत भाषा का स्वाभाविक विकास हमारे सम्मुख उपस्थित करता है । पाणिनी अष्टाध्यायी के अतिरिक्त अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना, प्राचीनकाल से होती रही है, परन्तु उन सब में से अष्टाध्यायी एक प्राचीन और अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है ।

पाणिनीय अष्टाध्यायी में वैदिक और लौकिक संस्कृत दोनों का ही विवरण मिलता है । पाणिनि सूत्रों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि संस्कृत उस समय बोलचाल की भाषा थी । अष्टाध्यायी के सूत्रों में प्राप्त भूगोल इतिहास, सामाजिक स्थिति और संस्कृत भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी सामग्री की मान्यता प्राचीन शिलालेखों तथा सिक्कों के समान मानी जाती है । भूगोल, सामाजिक जीवन, धार्मिक जीवन, आर्थिक और दार्शनिक जीवन सम्बन्धी सामग्री अष्टाध्यायी के सूत्रों में उपलब्ध होती है ।

पाणिनीय शैली की एक विशेषता यह है कि उन्होंने धातुओं से शब्द

निर्वचन की पद्धति को अपनाया । उन्होंने लोकभाषा में प्रयुज्यमान धातुओं का विशाल संग्रह धातुपाठ में किया । दूसरी ओर पाणिनि ने धातुओं से संज्ञा शब्दों को उत्पन्न करने की प्रक्रिया की सामान्य और विशेष ढंग से छानबीन करके कृदन्त प्रत्ययों की विशाल सूची दी और जिन अर्थों में वे कृदन्त प्रत्यय जिन शब्दों में जुड़ते हैं, उनका भी विवरण दिया ।

पाणिनि की अष्टाध्यायी की एक विशेषता यह भी है कि उस पर एक ही आचार्य पणिनि के कर्तृत्व की छाप है, जिस प्रकार निरुक्त पर एक ही यास्काचार्य की छाप है । शब्द सामग्री का संग्रह करने के पश्चात् महान् प्रयत्न से एक ही बार में आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की । बर्नेल के अनुसार, ढाई सहस्र वर्षो की दीर्घ परम्परा के बाद अष्टाध्यायी का पाठ जितना शुद्ध और प्रामाणिक हमें मिलता है, उतना किसी अन्य संस्कृत ग्रन्थ का नहीं। अष्टाध्यायी की प्राचीनता के कारण, जिसे आजकल प्राय: सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं, इसकी सामग्री का अत्यधिक महत्त्व है ।

पाणिनि अष्टाध्यायी उस स्थिर सरोवर के समान है, जिसमें निर्मल जल भरा हो और जिसमें उतरने के लिए पक्के घाट बन्धे हों । पाणिनि ने अपने एकाग्र मन, सारग्राहिणी बुद्धि, समन्वयात्मक दृष्टिकोण, दृढ़ परिश्रम, सूत्र रचने की कुशलता एवं विपुल सामग्री की सहायता से जिस अनोखे, अद्‌भुत व्याकरण शास्त्र की रचना की, वह शास्त्र सचमुच संस्कृत भाषा की समस्या का एक समाधान था। इसी कारण लोक में पाणिनि शास्त्र का स्वागत करते हुए ध्वनि गूंज उठी–

पाणिनीयं महत्सुविहितम् । (महा० III.2.3)

अर्थात् पाणिनि का शास्त्र महान् एवं सुविरचित है ।

पाणिनि की अष्टाध्यायी का विकास अनेक विद्वानों के प्रामाणिक प्रयत्नों के बाद हुआ। पाणिनि की अष्टाध्यायी में लगभग चार हजार सूत्र हैं अथवा ठीक गिनती के अनुसार 3976 सूत्र है, जिसमें अ इ उ ण, ऋ लृक्, आदि अक्षर समाम्नाय के चौदह प्रत्याहार सूत्र भी सम्मिलित हैं। पाणिनि ने शिव की उपासना करके चौदह माहेश्वर सूत्रों को प्राप्त किया तथा एक विशाल व्याकरण की रचना की। पाणिनि के सूत्रों की शैली में अत्यन्त संक्षिप्तता है। सूत्रों की संक्षिप्तता अष्टाध्यायी की एक विशेषता

है । वास्तविक रूप से पाणिनि से पूर्व ही श्रौत, धर्म, गृह्य सूत्रों, प्रातिशाख्यों आदि वैदिक पार्षद एवं पारिषद ग्रन्थों में सफलतापूर्वक सूत्रशैली का प्रयोग हो चुका था, परन्तु इसी शैली को अच्छी तरह से पाणिनि पूर्ण शक्ति के साथ निखार कर उपयोग में लाया। अतएव पाणिनि को 'सूत्रकार' संज्ञा दी गई–

'पाणिनेः सूत्रकारस्य'।

पाणिनि ने सामान्य तथा विशेष नियमों को ध्यान में रखते हुए सूत्रों की रचना की। सूत्र की परिभाषा इस प्रकार दी गई है–

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभनमवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

सूत्र छः 6 प्रकार के होते हैं ।

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

1. संज्ञा सूत्र, जैसे, **वृद्धिरादैच्, अदेङ् गुणः** आदि ।
2. परिभाषा सूत्र, **'अव्यवस्थायां सुव्यवस्थासम्पादकं सूत्रम्'** जैसे–**आदेः परस्य, तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** आदि ।
3. विधिसूत्र, जैसे, **इको यणाचि, एचोऽयवायावः** आदि ।
4. नियम सूत्र, **कृत्तद्धितसमासाश्च, रात्सत्य** आदि ।
5. अतिदेश सूत्र, **स्थानिवदादेशोऽनल्, विधौ, तृज्वत् क्रोष्टुः** आदि।
6. अधिकार सूत्र, **ङ्याप् प्रातिपदिकात्, आ तुके** आदि ।

पाणिनीय व्याकरण आठ अध्यायों में विभक्त है । प्रत्येक अध्याय में चार–चार पाद हैं । अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में संज्ञाओं और परिभाषाओं का उल्लेख है तथा दूसरे अध्याय में समास और विभक्ति का वर्णन है–

संज्ञानां परिभाषणां पूर्वाध्याये प्रदर्शनम्।
समासश्च विभक्त्यर्था द्वितीयाध्यायगोचराः॥

तृतीय अध्याय में धातु और प्रत्यय तथा चतुर्थ व पाँचवे अध्याय में तद्धितान्त और कृदन्त प्रत्ययों का वर्णन है–

तृतीये धातुविहिताः प्रत्ययाः सुव्यवस्थिताः।
तुर्यपञ्चमयोरुक्ता अवशिष्टाश्च ते क्रमात्॥

छठे तथा सातवें अध्याय में प्रकृत कार्य एवं प्रत्ययों के स्थानों का तथा आठवें अध्याय के पूर्वचरण में पद कार्यों का वर्णन है–

षष्ठे प्रकृतकार्याणि प्रायेण दर्शयन्मुनिः।
सप्तमे प्रत्ययस्थानि द्विष्ठानि च यथाक्रमम्॥
अष्टमे पूर्वचरणे एककार्य समासतः।
यान्यसिद्धानि पूर्वत्र त्रिपाद्यां तान्यवेशयत्॥

पाणिनीय अष्टाध्यायी ने अपने विशाल नीति नियमों के कारण व्यापक ख्याति को प्राप्त किया। इसमें प्रकृति प्रत्ययों का निर्धारण तथा उसमें अन्तर को बताया गया । इस व्याकरण शास्त्र की तुलना संसार के किसी अन्य व्याकरण से नहीं की जा सकती । पाणिनीय व्याकरण ने एक नये युग का निर्माण किया । यह संस्कृत व्याकरण शास्त्र के अध्ययन करने वालों के लिए एक महत्त्वपूण उपयोगी ग्रन्थ है । डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार, ''संस्कृत भाषा का जहाँ तक विस्तार है, वहाँ तक पाणिनीय शास्त्र का प्रामण है, किन्तु मेरा विश्वास है, कि उसके अनेक अंश न केवल संस्कृत अपितु भाषामात्र के लिए प्रमाण हैं ।''
(पाणिनिकालीन भारतवर्ष p. 1.)

पाणिनि के सर्वातिशायी महत्त्व का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वार्तिककार कात्यायन एवं महाभाष्यकार पतञ्जलि जैसे लोकविश्रुत आचार्यो ने अपने-अपने ग्रन्थों के अन्त में पाणिनि के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उनके लिए 'भगवान्' पद का प्रयोग किया है । कात्यायन का अन्तिम वार्तिक है–**भगवतः पाणिनेः सिद्धम्** । महाभाष्य का अन्तिम वाक्य हैं–**भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्** ।

पाणिनि द्वारा पारिभाषिक शब्दावलि का प्रयोग
TECHNICAL DEVICES USED BY PĀṆINI

संस्कृत वाङ्मय के विशाल ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' में पाणिनि ने प्रत्येक नियम को सूत्र के रूप में अति संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया है । पाणिनि ने संक्षिप्त रूप से सूत्रों को लेकर उनका अर्थ स्पष्ट किया । पाणिनि के पास शब्दों का विशाल संग्रह था । उन्हें व्याकरण का अच्छी तरह से पूर्ण ज्ञान था । व्याकरण का इतना सूक्ष्म ज्ञान तथा उस ज्ञान को नियमों में स्पष्ट रूप से प्रकट करने की क्षमता पाणिनि में मिलती है । पाणिनि के व्याकरण का उद्देश्य मनुष्यों को सरलता से व्याकरण का अध्ययन कराना था। पाणिनि ने नियमों में अत्यन्त संक्षिप्तता लाने के लिए अनेक प्रकार की विधियों को अपनाया ।

I. **प्रत्याहार**–नियमों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने के लिए पाणिनि ने सर्वप्रथम प्रत्याहार विधि का आश्रय लिया । 14 माहेश्वर सूत्र पाणिनि व्याकरण के आधार स्तम्भ हैं । 14 माहेश्वर सूत्र इस प्रकार हैं–**अ इ उ ण्, ऋ लृक्, ए ओङ्, ऐ औच्, ह य व र ट्, लण्, ञ म ङ ण न म्, झ भञ्, घढधप्, ज ब ग ड दश्, ख फ छ ठ थ च ट त व्, कपय्, शषसर्, हल्** । इन्हीं 14 माहेश्वर सूत्रों से प्रत्याहार बनते हैं। इन्हें शिवसूत्र भी कहा जाता है, क्योंकि ये सूत्र आचार्य पाणिनि को शिव की कृपा से प्राप्त हुए थे । कुल प्रत्याहार 41 हैं। जो इस प्रकार हैं–**अण, अक्, इक्, उक्, एङ्, अच्, इच्, एच्, ऐच्, अट्, अण्, इण्, यण्, अम्, यम्, ङम्, यञ्, झष्, झष्, अश्, हश्, वश्, जश्, झश्, बश्, छव्, यय्, मय्, झय्, खय्, यर्, झर्, खर्, चर्, शर्, अल्, हल्, वल्, रल्, झल् शल्** । इन्हीं प्रत्याहारों के आधार पर

पाणिनि आचार्य नियमों में संक्षिप्तता लाने में सफल हुए ।

II. अनुबन्ध–पाणिनीय व्याकरण में तीन प्रकार के अनुबन्धों का वर्णन है–

(क) धातु और प्रत्ययस्थ अनुबन्धों के प्रयोजन ।

(ख) प्रत्ययस्थ अनुबन्ध ।

(ग) आगम अनुबन्ध ।

(क) धातु और प्रत्ययस्थ अनुबन्धों के प्रयोजन

(i) जिन धातुओं के उदात्त में **अ आ इ ई उ ऊ ऋ लृ ए** और **ओ** हों और इनके अनुबन्ध इत्संज्ञक होते हों तो उनसे परस्मैपद तथा जिनके पूर्वोक्त वर्ण अनुदात्त अकारादि स्वर इत्संज्ञक हों, उन और व्यञ्जनों में ङकार जिनका इत्संज्ञक होता है उनसे आत्मनेपद होता है। अनुदात्त ङित आत्मनेपदम्। (अष्टा० I.3.12)

(ii) जिसका स्वरित अकारादि या अकार इत्संज्ञक हो उनसे आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों होते हैं–**स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ।** (अष्टा० I.3.72)

(iii) जिनका आकार इत् जाता है और जिनका ईकार इत् जाता है उनसे परे निष्ठासंज्ञक प्रत्ययों को इट् का आगम नहीं होता । **आदितश्च ।** (अष्टा० VII.2.16) **श्वीदितो निष्ठायाम्** (अष्टा० VII.2.14)

(iv) जिनका उकार इत् जाता है उनके परे कृत्वा प्रत्यय को इट् का आगम विकल्प करके और निष्ठा प्रत्यय को इट् का आगम नहीं होता । **उदितो वा** (अष्टा० VII.3.56) **यस्य विभाषा** । (अष्टा० VII.2.15)

(v) जिनका ह्रस्व इकार इत् जाता है उनको नुम् का आगम होता है–**इदितो नुम् धातोः** । (अष्टा० VII.1.58)

(vi) जिनका **ऊकार** इत् जाता है उनके परे सामान्य आर्धधातुक प्रत्यय को इट् का आगम विकल्प करके और निष्ठा प्रत्यय

को इट् का आगम नहीं होता ।–**स्वरति सूति सूयति धूञ् दितो वा** । (अष्टा० VII.2.44) **यस्य विभाषा** । (अष्टा० VII.2.15)

(vii) जिनका ह्रस्व ऋकार इत् जाता है, चङ् परक णिच् परे हो तो उनकी उपधा को ह्रस्व नहीं होता । **नाग्लोपिशास्वृदिताम्।** (अष्टा० VII.4.2)

(viii) जिनका लृकार इत् जाता है उनसे परे च्लि प्रत्यय के स्थान पर अङ् आदेश होता है–**पुषादिद्युताद्लृदितः परस्मैपदेषु।** (अष्टा० III.1.55)

(ix) जिनका एकार इत् हो जाता है उनको इडादि सिच् के परे परस्मैपद में वृद्धि नहीं होती । **ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्।** (अष्टा० VII.2.5)

(x) जिनका ओकार इत् जाता है उनसे परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है । **ओदितश्च** । (अष्टा० VIII.2.45)

(xi) जिनका **'टू'** इत् जाता है उनसे परे **अथुच्** प्रत्यय होता है । **ट्वितोऽथुच्।** (अष्टा० III.3.89)

(xii) जिनका **'डु'** इत् जाता है उनसे परे **क्त्रि** प्रत्यय होता है । **ड्वितः क्त्रिः** (अष्टा० III.3.88)

(xiii) जिनका ष इत् जाता है उनसे स्त्रीलिंग में अङ् प्रत्यय होता है। **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (अष्टा० III.3.104)

(xiv) जिनका **ञि** इत् जाता है उनसे परे वर्तमानकाल में **क्त** प्रत्यय होता है–**ञीतः क्तः** (अष्टा० III.2.187)

(ख) प्रत्ययस्थ अनुबन्ध

(i) जिनका ककार, गकार और ङकार इत् जाता है वे प्रत्यय परे हों तो अङ्ग और गुण को वृद्धि नहीं होती । **क्ङिति च** (अष्टा० I.1.5)।

(ii) कित् परे रहने पर वचि, स्वपि, और यजादि धातुओं को सम्प्रसारण और अन्तोदात्त स्वर होता है और कित् ङित् के

परे गृह आदि धातुओं को सम्प्रसारण होता है । **वचिस्वपियजादीनां किति**, (अष्टा० VI.1.15) **कितः**, (अष्टा० VI.1.165) **ग्रहिज्यावयिव्यधि०।** (अष्टा० VI.1.16).

(iii) ञित् या णित् प्रत्यय के परे अजन्त अङ्ग और उपधा के परे अकार की वृद्धि और प्रकृति को आद्युदात्त स्वर होता है । **अचोऽञ्णिति** (अष्टा० VIII.2.115) **अत उपधायाः ।** (अष्टा० VII.2.116) **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (अष्टा० VI.1. 197) चित् का अन्तोदात्त प्रयोजन है–**चितः** (अष्टा० VI. 1.163)

(iv) टित् का प्रयोजन ङीप् प्रत्यय **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्०।** (अष्ट० VI.1.15)

(v) ङित् का प्रयोजन टि लोप है । **तिविंशतेर्डिति।** (अष्टा० VI.4.142)

(vi) तित् का प्रयोजन स्वरति स्वर होता है । **तित्स्वरितम्।** (अष्टा० VI.1.185)

(ग) आगम अनुबन्ध

टित्, कित् और मित् ये तीन प्रकार के आगम होते हैं । प्रकृति और प्रत्यय के समुदाय में टित् आगम जिसको विधान करे उसके आदि अव्यय का **आद्यन्तौ टकितो** (अष्टा० 1.1.46) कित् आगम जिनको विधान करे उसके अन्तिम का अव्यय और मित् आगम जिसको विधान करे उसके अन्त अच् से परे होता है।–**मिदचोऽन्त्यात् परः।** (अष्टा० I.1.47)

III. **गण**–आचार्य पाणिनि ने प्रत्येक गण के प्रथम शब्द को सूत्र में रखा है । जहाँ पर एक ही नियम अनेक शब्दों पर लागू होता है, वहाँ पर पाणिनि ने उन शब्दों में से प्रथम शब्द के नाम पर उस गण का नामकरण किया है । इसी से उस गुण के समस्त शब्दों का ज्ञान हो जाता है ।

जैसे–'**सर्वादीनि सर्वनामानि**' (अष्टा० I.1.127) में 'सर्व' शब्द

मात्र है, किन्तु सर्वादिगण में 35 सर्वनाम है जिसका बोध 'सर्वादीनि' से हो जाता है ।

IV. **अनुवृत्ति**–नियमों में संक्षिप्तता लाने के लिए पाणिनि ने अनुवृत्ति प्रणाली को अपनाया है । पूर्व सूत्रों से उत्तरवर्ती सूत्रों में पद के अनुवर्तन को अनुवृत्ति नाम दिया गया है। अनुवृत्ति अधिकार सूत्रों पर निर्झर करती है । जहाँ तक अधिकार सूत्रों का क्षेत्र है वहाँ तक अनुवृत्ति जाती है, जैसे **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (अष्टा० IV.1.1) इस सूत्र का अधिकार क्षेत्र, पञ्चमाध्याय की समाप्ति तक है । अतः वहाँ तक इस सूत्र द्वारा निर्दिष्ट अनुवृत्ति, आगे के प्रायः सभी सूत्रों में जायेगी । कभी-कभी अनुवृत्ति 'मण्डूकप्लुति' न्याय से की जाती है ।

V. **संज्ञाएँ**–पाणिनि का ध्यान संक्षेप की ओर अत्यधिक था । नियमों को संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करने के लिए पाणिनि ने भिन्न-भिन्न संज्ञाओं का निर्माण किया है । विभिन्न प्रकार की संज्ञाएँ नियमों में संक्षिप्तता लाने के लिए सहायक सिद्ध हुई हैं । जैसे–

(i) **वृद्धि**–आ, ऐ और औ की वृद्धि संज्ञा होती है–**वृद्धिरादैच्**। (अष्टा० I.1.1)

(ii) **गण**–अ, ए और ओ गुण कहलाते हैं–**अवेङ् गुणः**। (अष्टा० I. 1.2.)

(iii) **सम्प्रसारण**–य् व् र् ल् के स्थान पर आने वाल इ उ ऋ लृ वर्णों की सम्प्रसारण संज्ञा होती है । –**इग्यणः सम्प्रसारणम्**। (अष्टा० I.1.45)

(iv) **संयोग**–दो या दो से अधिक हल् व्यञ्जनों के मेल को संयोग संज्ञा कहते हैं । **हलोऽनन्तराः संयोगः** । (अष्टा० I. 1.7)

(v) **लोप**–प्रत्यय आदि का अपने स्थान पर न होना प्रकारान्तर से लोप कहा जाता है–**अदर्शनं लोपः** । (अष्टा० I.60)

(vi) **आदेश**–किसी वर्ण के स्थान पर उसकी सत्ता को मिटाकर दूसरे वर्ण का आगमन आदेश कहलाता है । आदेश शत्रुवत्

होता है–**शत्रुवदादेशः** । जैसे–**तस्थस्थमिपान्तान्तन्तामः** (अष्टा० III. 4. 101)

(vii) **आगम**–किसी वर्ण को हटाए बिना नए वर्ण का आगमन **आदेश** कहलाता है । जैसे–**आडुत्तमस्य पिच्च** (अष्टा० III. 4.92) मित्रवदागमः–आगम मित्र के समान होता है ।

(viii) **उपधा**–अन्तिम वर्ण से ठीक पहले वर्ण की उपधा संज्ञा होती है–**अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा**। (अष्टा० I.1.65)

(ix) **टि**–किसी भी शब्द का अन्तिम स्वर टिसंज्ञक होता है ।–**अचोऽन्त्यादि टि**। (अष्टा० I.1.64)

(x) **पद**–सुप् और तिङ् प्रत्ययों से युक्त वर्ण समुदाय पद संज्ञक होता है । **सुप्तिङन्तं पदम्**। (अष्टा० I.4.14)

इस प्रकार नियमों में संक्षिप्तता लाने के लिए, व्याकरण का सुगमता से ज्ञान करवाने के लिए पाणिनि आचार्य ने संक्षेप में नियमों को अपने ग्रन्थ में सजाया है ।

VI. **सन्धि सम्बन्धित परिभाषाएँ**–संज्ञाओं और परिभाषाओं के अतिरिक्त पाणिनि ने सन्धि से सम्बन्धित परिभाषाओं का भी वर्णन किया है ।

(क) **एकादेश**–जहाँ दो वर्ण मिलकर एक रूप हो जाते हैं, वहाँ एकादेश होता है । जैसे–**अकः सवर्णे दीर्घः**। (अष्टा० VI. 1.101)

(ख) **पररूप**–पूर्व और पर वर्ण के मिलने पर जहाँ 'पर' वर्ण ही हो वहाँ पररूप होता है । जैसे-**एङि पररूपम्**। (अष्टा० VI.1.94)

(ग) **पूर्वरूप**–पर और पूर्व वर्ण के आने पर जहाँ पूर्व वर्ण हो जाए, पर वर्ण न हो, वहाँ पूर्वरूप कहलाता है । जैसे–**एङः पदान्तादति**। (अष्टा० VI.109)

(घ) **प्रकृतिभाव**–जहाँ वर्णों में कोई प्राप्त विकार नहीं होता और वे वर्ण वैसे ही अपरिवर्तित बने रहते हैं वहाँ प्रकृतिभाव कहा जाता है । जैसे–**प्रकृत्यान्तः पादमण्यपरे** । (अष्टा०

VI.115)

VII. **परिभाषा**–नियमों को संक्षेप रूप में प्रस्तुत करने के लिए आचार्य पाणिनि ने परिभाषा सूत्रों को अपनाया है । परिभाषा सूत्र व्याकरण के मुख्य अङ्ग है । **'आदेः परस्य,'** (अष्टा० I. 1.54) **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (अष्टा० I.4.2) आदि परिभाषा सूत्र हैं । इनके द्वारा उन नियमों का विधान किया गया है जो आगे पीछे सभी जगह के लिए व्यवस्था करते हैं । पाणिनि ने 100 के लगभग परिभाषा सूत्रों की रचना की है, जो व्याकरण को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करते हैं ।

VIII. **आकृतिगण**–व्याकरण नियमों की रचना में, सहायक गणपाठ की शैली का महत्त्वपूर्ण योगदान है । कुछ गणों में पाणिनि के द्वारा पूरा पाठ एक बार दे दिया गया था । दूसरे गणों में भाषा में बाद में उत्पन्न होने वाले शब्दों को अपनाया गया। इस प्रकार के गण आकृतिगण कहलाते हैं । जो शब्द पूर्णरूपेण गण के शब्दों से सम्बन्ध नहीं रखते किन्तु शब्दों का आगम भी उनमें होता है, वे गण आकृतिगण कहलाते हैं ।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि पाणिनि ने व्याकरण ग्रन्थ की रचना के लिए उसमें रखे जाने वाले नियमों के संक्षेपीकरण के लिए अनेक विधियों का आश्रय लिया तथा अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त करके व्याकरण शास्त्र का निर्माण किया । व्याकरण में प्रत्येक नियम को सूत्र के रूप में संक्षिप्त करने का उद्देश्य व्याकरण के अध्ययन को सरल व सुगम बनाना था, इस कार्य में आचार्य पाणिनि को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है ।

कात्यायन
KĀTYĀYANA

परिचय–वार्त्तिककार कात्यायन का नाम व्याकरण शास्त्र के महान् प्रतिभाशाली आचार्य पाणिनि और पतञ्जलि के साथ लिया जाता है । पाणिनि, पतञ्जलि और कात्यायन की ख्याति सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्र पर छाई हुई है । कात्यायन ने वार्त्तिकों की रचना की । ये वार्त्तिक पाणिनि के सूत्रों जितनी ही महत्ता रखते हैं । अन्य सभी (सुनाग, क्रोष्टा, वाडव, भारद्वाज तथा महाभाष्य में निर्दिष्ट **'अपर आहुः'** वचन से इंगित कुछ अज्ञात आचार्यों) के वार्त्तिकों की तुलना में कात्यायन के वार्त्तिकों का पाठ अधिक महत्त्वपूर्ण है । महाभाष्य में कात्यायन के वार्त्तिकों को ही विशेष स्थान दिया गया है ।

पुरुषोत्तमदेव ने अपने 'त्रिकाण्ड शेष' कोष में **कात्यायन के कात्य, कात्यायन, पुनर्वसु, मेधाजित्** और **वररुचि** नाम गिनाए हैं । महाभाष्यकार चार नामों का उल्लेख करता है। प्राचीन वाङ्मय में अनेक कात्यायनों का उल्लेख है । एक कात्यायन कौशिक है, दूसरा आङ्गिरस है, तीसरा भार्गव है और चौथा द्व्यामुष्यायण है। कौटिल्य अर्थशास्त्र समयाचारिक प्रकरण में भी एक कात्यायन स्मृत है। उनका पूरा नाम वररुचि कात्यायन था । वही वररुचि कात्यायन अष्टाध्यायी के यशस्वी वार्त्तिककार है, इसमें प्रमाण दिए गए हैं–

I. काशिकाकार ने **'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु'** (अष्टा० IV.3.105) सूत्र पर आख्यानों को आधार मानकर शतपथ ब्राह्मण को अचिरकालकृत माना है । किन्तु वार्त्तिककार ने **'याज्ञवल्क्ययादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्य-कालत्वात्'** (महा० IV.2.66) में याज्ञवल्क्यप्रणीत शतपथ ब्राह्मण को अन्य ब्राह्मणों का समकालिक माना है इससे

स्पष्ट प्रतीत होता है कि वार्तिककार ने तुल्यकाल्त्वहेतु से शतपथ को पुराणप्रोक्त सिद्ध करने का प्रयत्न किया है ।

II. महाभाष्य (**प्रियतद्धिता वाक्षिणात्या:। यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेषु प्रयुञ्जते।** पस्पशाह्निक) से ज्ञात होता है कि कात्यायन दक्षिण का रहने वाला था। कात्यायन शाखा का अध्ययन भी प्राय: महाराष्ट्र में हो रहा है ।

III. शुक्लयजु: प्रातिशाख्य के बहुत से सूत्र कात्यायन के वार्तिकों से समानता रखते हैं जिससे इनके पारस्परिक सम्बन्ध की पुष्टि होती है ।

IV. वाजसनेय प्रातिशाख्य में एक सूत्र है–**पूर्वो द्वन्द्वेष्ववायुषु** (III. 127) इसमें **'अवायुष'** पद **'द्वन्द्वेषु'** का विशेषण है । वार्तिककार ने वाजसनेय प्रातिशाख्य के अनुसार, **'उभयत्र वायो: प्रतिषेधो वक्तव्य:'** कहा है । अत: प्रातिशाख्य के अनुकरण पर ही वार्तिक रचना गया प्रतीत होता है ।

V. वार्तिककार वाजसनेयि प्रातिशाख्य की भाँति समासवत् अथवा एकपदवत् मानकर कार्य का विधान करता है । वाजसनेयि प्रातिशाख्य में **उदात्ततिङ्युक्त गति** (उपसर्ग) **द्विर्वचन**, और **इव** पद के प्रयोग को समासरूप मानकर पदपाठ में अन्य समासों के समान अवग्रह के द्वारा पृथक् प्रदर्शित किया गया है । यथा–

अनुदात्तोपसर्गे चाख्याते (वा० प्रा० V. 16) उपस्तृणन्तीत्युप-स्मृणन्ति (वा० सं० XXV. 39)। अवधावतीत्यव-धावति (वा. सं. XXV. 34)।

VI. सायण ने भी ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में स्पष्ट रूप से वार्तिककार का नाम वररुचि लिखा है ।

प्रदेश–महाभाष्य के पस्पशाह्निक में 'यथा लौकिकवैदिकेषु' वार्तिक की व्याख्या की गई है–**प्रियतद्धिता दाक्षिणपात्या:। यथा लोके वेदे च प्रयोक्त्व्ये यथा लौकिकवैदिकेषु प्रयुञ्जतै** । इस व्याख्या से ज्ञात होता है कि वार्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य थे । कथासरित्सागर (I.3,4) के अनुसार कात्यायन को कौशाम्बी का निवासी माना गया है । स्कन्दपुराण

(नागर काण्ड 174.55) में याज्ञवल्क्य का आश्रम गुजरात में माना गया है । इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि याज्ञवल्क्य के मिथिला चले जाने के बाद उसका पुत्र कात्यायन महाराष्ट्र चला गया हो और उसका पौत्र वार्त्तिककार वररुचि कात्यायन दक्षिण में रहता हो ।

वार्त्तिककार के दाक्षिणात्य होने में एक अन्य प्रमाण दिया गया है । युधिष्ठिर मीमांसक ने पाणिनीय सूत्रपाठ, धातुपाठ और उणादि पाठों के प्रकरण में इन ग्रन्थों के दाक्षिणात्य, औदीच्य और प्राच्य तीन प्रकार के पाठ बताए हैं । दाक्षिणात्य और औदीच्य लघुपाठ हैं तथा प्राच्य पाठ वृद्ध पाठ है। वार्त्तिक अष्टाध्यायी के लघु पाठ पर लिखे होने के कारण भी वार्त्तिककार का दक्षिणात्य होना सिद्ध है ।

काल–वार्त्तिककार कात्यायन का समय युधिष्ठिर जी ने विक्रम से लगभग 2900-3000 वर्ष पूर्व माना है । कुछ विद्वानों के अनुसार कात्यायन पाणिनि के समकालिक माने जाते हैं । कुछ विद्वान् कात्यायन को उदयन पुत्र वहीनर से अर्वाचीन मानते हैं । यदि परम्परानुसार कात्यायन को महापद्मनन्द का समकालिक माना जाए तो 400 ईस्वी पूर्व कात्यायन का समय बैठता है । आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, कात्यायन पाणिनि से डेढ़ दो सौ वर्ष बाद हुए थे। अधिकांश विद्वानों ने उनका समय 500 से 350 ई० पूर्व के मध्य निर्धारित किया है ।

कात्यायन वार्त्तिककार के रूप में–

कात्यायन के वार्त्तिक पाणिनीय व्याकरण में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । वार्त्तिकों के बिना व्याकरण अधूरा जान पड़ता है । कात्यायन वार्त्तिकों के आधार पर महाभाष्य की रचना हुई है। कात्यायन ने वार्त्तिक का पुराण प्रोक्त लक्षण दिया है–

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्त्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः॥

(पराशर उपपुराण)

अर्थात् उक्त, अनुक्त और दुरुक्त विषयों की चर्चा करना वार्त्तिक का कार्य है ।

कात्यायन ने 1500 सूत्रों के ऊपर वार्त्तिक लिखे हैं । ये वार्त्तिक

पाणिनि प्रोक्त सूत्रों को आधार मानकर लिखे गए हैं । इन वार्त्तिकों के द्वारा सूत्रों में छूटे हुए अंश को पूरा करके समझाने का प्रयास किया गया है। अथवा सूत्रों का कार्य क्षेत्र और अधिक विस्तृत किया गया है ।

कात्यायन ने वार्त्तिक क्यों लिखे–

प्राय: कात्यायन को पाणिनि का आलोचक सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु यह ठीक नहीं । कात्यायन ने वार्त्तिकों की रचना करके पाणिनीय सूत्रों पर कटाक्ष नहीं किये । अत: वह पाणिनि का आलोचक नहीं माना जा सकता । कात्यायन की महत्ता तथा उसकी देन को व्यक्तिगत रूप में आँका गया है । कात्यायन की महत्ता इस बात में है कि उस ने वार्त्तिकों की रचना कर पाणिनि के सूत्रों के छूटे अंश को पूरा करने का प्रयत्न किया है ।

बेल्वेल्कर के मतानुसार, कात्यायन ने पाणिनि को नीचा दिखाने के लिए वार्त्तिकों की रचना की । स्वयं को पाणिनि से ऊँचा दिखाने के लिए कात्यायन ने वार्त्तिक लिखे । कात्यायन पाणिनि का आलोचक था, तथा उसने पाणिनि की कमियों को प्रकट करके उसकी आलोचना की । परन्तु बेल्वेल्कर के इस मत से सभी सहमत नहीं है ।

कात्यायन पाणिनि का आलोचक नहीं था । कात्यायन का उद्देश्य पाणिनि के सूत्रों में पाइ जाने वाली कुछ अस्पष्टताओं को, अथवा कठिनता से समझ में आ सकने वाले कुछ रहस्यों को सरल वार्त्तिकों के रूप में प्रस्तुत करना था । कात्यायन ने पाणिनि के सूत्रों में सुधार न करके अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए पृथक् रूप से वार्त्तिकों को रखा है। कात्यायन ने पाणिनि के सूत्रों में कुछ परिवर्तन करके, उन्हीं सूत्रों का अनुकरण करते हुए, वार्त्तिको को रचा है, ऐसा निम्नलिखित कुछ उदाहरणों से ज्ञात होता है–

पाणिनि के सूत्र	कात्यायन के वार्त्तिक
1. अदर्शनं लोप:	वर्णस्याऽदर्शनं लोप:
2. तस्मादित्युत्तरस्य	तस्मादित्युत्तरस्यादे:
3. मुखनासिकावचनोऽनुनासिक:	मुखनासिकाकरणोऽनुनासिक:
	आदि आदि ।

इस प्रकार कात्यायन के बहुत वार्त्तिक तो पाणिनि के सूत्रों पर आश्रित हैं । बहुत से सूत्रों को पुनः दोहराया भी गया है। बहुत से स्थानों पर व्याकरण में भी परिवर्तन किया है। जैसे–अच् = स्वर, हल् = व्यञ्जन आदि । कथासरित्सागर की कथानुसार, कात्यान ऐन्द्र का अनुयायी था । पतञ्जलि के अनुसार, कात्यायन दाक्षिणात्य था। कात्यायन से पूर्ववर्ती वार्त्तिककार–शाकटायन, शाकल्य, पुष्कल, व्याडि आदि हैं । पश्चात्वर्ती वार्त्तिककार-सौनाग, कुणार, वाडव, कुणि आदि हैं । इन परवर्ती आचार्यों तथा कात्यायन और पतञ्जलि के प्रयत्नों के बाद, पाणिनीय व्याकरण का रूप अधिक निखर कर सामने आया, इसमें सन्देह नहीं है ।

अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कात्यायन पाणिनि आचार्य का आलोचक नहीं था अपितु उसने पाणिनि के सूत्रों में कुछ सुधार सुझाकर अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए, वार्त्तिकों की रचना पृथक् रूप से की। अथवा इस प्रकार भी कह सकते हैं कि कालक्रमानुरोध से हुए भाषा में परिवर्तनों को एकत्रित किया है ।

पतञ्जलि

PANTAÑJALĪ

पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्रों पर सर्वप्रथम वार्त्तिक तथा उसके बाद भाष्य लिखे गए। महामुनि पतञ्जलि की पाणिनीय व्याकरण पर एक व्याख्या 'महाभाष्य' संस्कृत वाङ्मय में एक अति महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस ग्रन्थ की भाषा के सरल होने के कारण प्रत्येक विद्वान् इस ग्रन्थ की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता है। यह ग्रन्थ सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में एक अनूठा ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के लोकप्रिय होने के कारण अन्य भाष्य लुप्त हो गए। जैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी के लोकप्रिय होने पर प्राचीन व्याकरण ग्रन्थ तथा कात्यान के वार्त्तिकों के कारण प्राचीन वार्त्तिक लुप्त हो गए।

परिचय—पतञ्जलि का जीवनवृत्त अन्य कई वैयाकरणों की भान्ति अन्धकारमय है। पतञ्जलि को शेषनाग का अवतार माना गया है। प्राचीन ग्रन्थों में उनके अनेक नाम—**नागनाथ**, **वासुकि**, **अहिपति**, **फणीभृत्**, **फणी**, **गोनर्दीय**, **गोणिकापुत्र**, **चूर्णिकार**, **पदकार** आदि मिलते हैं। महाभाष्यकार ने स्वयं अनेकत्र इन नामों का प्रयोग किया है।

'**पदकार**' नाम आचार्य पतञ्जलि के लिए अनेकत्र प्रयोग किया गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि को 'पदकार' क्यों कहा जाता है—इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। महाभाष्य में पाणिनीय सूत्रों के प्रत्येक पद पर विचार किया गया है। अत: सम्भव है कि महाभाष्यकार को इसी कारण '**पदकार**' के नाम से भी जाना जाता है।

पतञ्जलि के '**गोनर्दीय**' नाम से महाभाष्यकार पतञ्जलि की जन्मभूमि

'गोनर्द' मानी गई है। गोनर्द देश वर्तमान गोंडा जिले के आसपास का प्रदेश है । युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार महाभाष्यकार प्राग्देशान्तर्गत गोनर्द का नहीं है। वह कश्मीरज है ।

महाभाष्य में **अभिजानाति देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः, तत्र सक्तून्, पास्यामः** (III.2.114) उल्लेख से प्रतीत होता है कि जैसे कश्मीर जाने की बड़ी उत्कण्ठा हो रही हों। इस प्रकार के कुछ उदाहरणों के आधार पर कुछ विद्वान् पतञ्जलि को कश्मीर का निवासी मानते हैं। महाभाष्य के विभिन्न निर्देशों से व्यक्त होता है कि पतञ्जलि मथुरा, साकेत, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र तथा कश्मीर से भली भान्ति परिचित थे, किन्तु उनकी जन्मभूमि कहाँ थी, यह सन्दिग्ध है। फिर भी कश्मीर के राजा अभिमन्यु और जयापीड़ द्वारा महाभाष्य का पुनः पुनः उद्धार कराना इस बात को स्पष्ट करता है कि पतञ्जलि का कश्मीर से कोई विशेष सम्बन्ध था ।

काल–पतञ्जलि के काल का प्रश्न एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । इस विषय में **'इह पुष्यमित्रं याजयामः'** (महा० III. 2.123) प्रमाण के आधार पर पतञ्जलि को पुष्यमित्र के महामन्त्री के रूप में स्वीकार किया जाता है । युधिष्ठिर मीमांसक भी इस मत को स्वीकार करते है । युधिष्ठिर मीमांसक की पुष्यमित्र के सम्बन्ध में कालगणना इतिहास में दिए गए प्रमाणों के विरुद्ध है। इस विषय पर कुछ महत्त्वपूर्ण प्रमाण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किए जा सकते हैं–

(1) उस समय पाटलिपुत्र शोण के किनारे बसा हुआ था **'अनुशोणं पाटलिपुत्रम्'** (महा० II.1.5) ।

(2) वृषलकुल से परिचय–**जेयो वृषलः** (महा० I.1.50)। **काण्डीभूतं वृषलकुलम्। कुड्यीभूतं वृषसकुलम्।** (महा० VI. 3.61) ।

(3) मौर्यों के लिए भूतकाल का निर्देश भी है : **"मौर्येर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः"**। (महा० V.3.99)

(4) किसी यवन् के द्वारा साकेत और माध्यमिकों को घेरा गया था । (महा० III. 2.111)।

(5) पतञ्जलि का परिचय पुष्यमित्र और चन्द्रगुप्त की सभा से था

(महा० I.1.68)। यद्यपि दोनों के काल में 150 वर्ष से अधिक का अन्तर है।

इन उदाहरणों से भिन्न-भिन्न परिणाम निकलते हैं। पाटलिपुत्र नाम के आधार पर वायुपुराण (99.318) के अनुसार महाराज उदयी ने गंगा के दक्षिण के किनारे पर कुसुमपुर बसाया था। कुसुमपुर पाटलिपुत्र का ही नाम होने के कारण महाभाष्यकार पतञ्जलि को महाराज उदयी से अर्वाचीन माना जाता है।

मुद्राराक्षस में चाणक्य चन्द्रगुप्त को प्रायः 'वृषल' के नाम से पुकारता है। यह वृषलकुल मौर्यकुल है। गार्गी संहिता में 'धर्ममीत' नाम के यवनराज द्वारा अयोध्या और माध्यमिका नगरी पर आक्रमण करने का वर्णन मिलता है। व्याकरण के नियमानुसार महाभाष्यकार पतञ्जलि यवनराज का समकालिक होना चाहिए–**'अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्'** (महा० III. 2.111)

अनेक विद्वानों के मतानुसार **'इह पुष्यमित्रं याजयामः'** उदाहरण में महाभाष्यकार के पुष्यमित्र द्वारा आयोजित अश्वमेध का ऋत्विक् होने का संकेत मिलता है।

इन प्रमाणों तथा प्रमाणों के परिणामों के आधार पर पतञ्जलि को शुङ्गवंश्य महाराज पुष्यमित्र का सामयिक माना जा सकता है। पाश्चात्य तथा कुछ भारतीय विद्वान् पुष्यमित्र का समय विक्रम से लगभग 150 वर्ष पूर्व स्वीकार करते हैं।

भारतीय परम्परानुसार पुष्पमित्र का समय विक्रम से लगभग 1200 वर्ष पूर्व होना चाहिए। चीनी विद्वानों ने महात्मा बुद्ध का समय विक्रम 900 से 1500 के बीच विभिन्न कालों में स्वीकार किया है। इसी प्रकार जैन धर्म ग्रन्थों में महावीर स्वामी के समय के विषय में भी विभिन्न तिथियाँ पाई जाती है। इन प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य ऐतिहासिकों द्वारा विर्धारित कालक्रम ठीक नहीं है। अतः वह मान्य नहीं हो सकता।

वायुपुराण (99.319) के अनुसार महाराज उदयी ने गंगा के दक्षिणी किनारे पर कुसुमपुर नाम का नगर बसाया था जो कि पाटलिपुत्र नाम से

प्रसिद्ध हुआ। महाभाष्यकार ने पाटलिपुत्र को अनुशोण लिखा है। अनुशोण स्थिति गंगा के दक्षिणी किनारे पर होने से ही उत्पन्न हो सकती है परन्तु मुद्राराक्षस नाटक में चन्द्रगुप्त मौर्य के समय पाटलिपुत्र की स्थिति अनुगङ्ग कही गई है और यह स्थिति उत्तरकूल पर थी और इस समय भी यही स्थिति है। अतः यदि पतञ्जलि को शुङ्गकाल में माना जाए तो उसका पाटलिपुत्र को अनुशोण लिखना ठीक नहीं बैठता। युधिष्ठिर भीमांसक का विचार है कि ''पाटलिपुत्र अत्यन्त प्राचीन नगर है और वह इन्द्रप्रस्थ के समान अनेक बार उजड़ा और बसा है।'' पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी के अनुसार, शक्यमुनि के जीवन काल में अजातशत्रु ने शोण के किनारे पाटलिग्राम में दुर्ग निर्माण किया था, उसे देखकर भगवान बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी–'यह भविष्य में प्रधान नगर होगा।'' अतः अजातशत्रु उदयी से पूर्व का है।

इससे ज्ञात होता है कि उदयी के द्वारा कुसुमपुर बनाने से पहले कोई पाटलि नाम का गाँव अवश्य था। इससे पतञ्जलि के काल का निर्णय हो जाता है। यह पाटलिपुत्र पतञ्जलि के समय तक मौर्यवंश के उत्थान और पतन को देख चुका था। हो सकता है कि पतञ्जलि अन्तिम या अन्तिम से पूर्ववर्त्ती मौर्य राजा के समय हुए हों। समुद्रगुप्त ने पतञ्जलि के काल का वर्णन भास से पूर्व किया है, अतः उसका समय 1500, विक्रम पूर्व से पहले होना सिद्ध होता है। महाराज अशोक का समय शिलालेखों के आधार पर सिकन्दर के लगभग 50 वर्ष बाद होना सिद्ध होता है पुष्पमित्र को 165 ई० पूर्व से पहले नहीं रख सकते। अतः पतञ्जलि का काल 165 ई० पूर्व के लगभग ठहरता है।

पतञ्जलि की व्याकरण को देन–

महाभाष्यकार पतञ्जलि की उच्चतम कृति, अपने महत्त्व के कारण भर्तृहरि आदि द्वारा 'महाभाष्य' के रूप में स्वीकृत होने के कारण तथा भाष्य की सीमा से आगे बढ़कर 'न्यायबीजों' के समावेश के कारण 'महाभाष्य' के नाम से पुकारी जाती है। महाभाष्य शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी भाषा लम्बे-लम्बे समासों की अपेक्षा छोटे-छोटे वाक्यों से सुसम्पन्न, अत्यन्त सरल और सरस है। यह ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय में सबसे अद्भूत है । अन्य किसी ग्रन्थ की रचना शैली महाभाष्य

की रचना शैली के समान उत्कृष्ट नहीं है। अतः भाषा की सरलता, स्वाभाविकता और विषय प्रतिपादन की शैली की उत्कृष्टता आदि के कारण यह ग्रन्थ समस्त संस्कृत वाङ्मय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

'महाभाष्य' व्याकरण शास्त्र का एक प्रामाणिक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। सम्पूर्ण महाभाष्य के अध्ययन से यह विदित होता है कि यह समस्त विद्याओं का आकर ग्रन्थ है। इसीलिए भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में लिखा है–

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने।। (I.486)

पतञ्जलि के महाभाष्य की अपेक्षा शबर स्वामी का मीमांसा भाष्य, तथा शंकराचार्य कृत वेदान्त भाष्य की भाषा सरल और भाव को व्यक्त करने में समर्थ नहीं है।

पतञ्जलि कृत महाभाष्य अति प्राचीन है। पाणिनि व्याकरण की ज्योति को प्रकाशित करने वाले 'महाभाष्य' को अनेक वृत्तिकारों भाष्यकारों और वार्त्तिककारों के चंगुल से निकलना पड़ा तथा दुर्भाग्यों का समना करना पड़ा। ऐतिहासिक मतानुसार, महाभाष्य का तीन बार लोप हुआ है।

प्रथम बार, कल्हण के मतानुसार बैजि, सौभव और हर्यक्ष आदि के द्वारा महाभाष्य के प्रचार को नष्ट करने के बाद चन्द्रचार्य ने महाराज अभिमन्यु के अनुरोध पर महाभाष्य का पुनः प्रचार किया। (राजतरङ्गिणी I.176).

द्वितीय बार, कश्मीर के महाराजा जयापीड़ ने दशान्तर से 'क्षीर' नामक विद्वान् को बुलाकर पुनः महाभाष्य का प्रचार कराया।

तृतीय बार, महाभाष्य का उद्धार कौपीनमात्रचारी स्वामी विरजानन्द सरस्वती और उसके शिष्य स्वामी दयानन्द ने किया, जो कि अर्वाचीन ग्रन्थों के अत्यधिक प्रचार के कारण लुप्त हो गया था।

आज उपलब्ध महाभाष्य का वेग इन्हीं दोनों गुरु और शिष्य को है। कम से कम दो बार तो 'महाभाष्य' का लोप और उद्धार हुआ। तीसरी बार महाभाष्य का भ्रष्ट या सही पाठ तो शेष रहा, किन्तु भर्तृहरि

कृत टीका जैसा आर्ष और रहस्योद्घाटक ग्रन्थ कुछ भाग को छोड़कर बिलुप्त हो गया। महाभाष्य के अनेक बार उच्छेद के कारण इसके पाठों में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है। विद्वानों ने महाभाष्य को पाणिनि शास्त्र के इतिहास की सबसे बड़ी घटना कहा है। महाभाष्य के अन्त में पाणिनि के लिए 'भगवान्' पद का प्रयोग करते हुए उन्होंने अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है–

"भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्।"

चन्द्रगोमिन् और उसका कार्य
CHANDRAGOMIN AND HIS WORK

पाणिनीय अष्टाध्यायी के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न कार्य किए हैं । उनमें से चन्द्रगोमी भी एक है। चन्द्रगोमी ने एक व्याकरण की रचना की । इस व्याकरण ग्रन्थ की रचना में चन्द्रगोमी ने पाणिनीय व्याकरण तथा उसके साथ-साथ पतञ्जलि कृत महाभाष्य से भी महती सहायता ली है । चन्द्रगोमी के नाम का उल्लेख पाणिनि, पतञ्जलि और कात्यायन की परम्परा से मिलता है। चन्द्रगोमी का व्याकरण **'चान्द्रव्याकरण'** नाम से जाना जाता है ।

परिचय–चन्द्रगोमिन् के वंश का कोई परिचय नहीं मिलता। अनुमान-प्रमाण के आधार पर चन्द्रगोमिन् का कुछ परिचय मिलता है । इसके कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं–

1. चान्द्र व्याकरण के प्रारम्भ में जो श्लोक उपलब्ध होता है, उस श्लोक से ज्ञात होता है कि चन्द्रगोमिन् बौद्धमतावलम्बी थे । बौद्धधर्म से सम्बन्धित होने के कारण चन्द्रगोमिन् ने स्वरों को अपने व्याकरण में नहीं रखा ।
2. कल्हण के लेख से विदित होता है कि चन्द्राचार्य ने कश्मीर के महाराज अभिमन्यु की आज्ञा से कश्मीर में महाभाष्य का प्रचार किया था, परन्तु उसके जीवन के बारे में कुछ ज्ञात नहीं होता । किसी अन्य प्रमाण से भी चन्द्रगोमी के जीवन के विषय पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता । चन्द्रगोमी के उणादि सूत्रों के अध्ययन से उनका बंग प्रान्त का निवासी होना सिद्ध होता है । चन्द्राचार्य ने उणादि सूत्रों की रचना ककारादि अन्त्य अक्षरक्रम से की है ।

काल–आचार्य कल्हण के मतानुसार चन्द्राचार्य कश्मीर के राजा अभिमन्यु का समकालिक था । अभिमन्यु का काल विक्रम से 1000 वर्ष पूर्व है । चन्द्राचार्य ने अभिमन्यु की आज्ञा से नष्ट हुए महाभाष्य का पुनः प्रचार किया था तथा एक नवीन व्याकरण की रचना की थी । परन्तु अभिमन्यु के काल के विषय में निश्चिततरूपेण कुछ नहीं कहा जा सकता । पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार अभिमन्यु का काल 423 ईसा पूर्व से लेकर 500 ईसा पश्चात् तक है । भारतीय विद्वान् कल्हण के अनुसार दिया गया काल 1000 वि० पूर्व उचित मानते हैं ।

कल्हण कृत राजतरङ्गिणी के अनुसार अभिमन्यु से प्रतापादित्य तक 21 राजा हुए तथा इनका काल 1014 वर्ष, 1 मास, 9 दिन था। कल्हण के लेखानुसार विक्रमादित्य ने मातृगुप्त को कश्मीर का राजा बनाया था । मातृगुप्त का काल अभिमन्यु से 1300 वर्ष, 11 मास, और 9 दिन उत्तरवर्ती है। पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने अभिमन्यु का काल बहुत अर्वाचीन और भिन्न-भिन्न माना है । परन्तु उनकी अपेक्षा भारतीय पौराणिक और राजतरङ्गिणी की कालगणना अधिक विश्वसनीय है ।

चान्द्रव्याकरण की विशेषता–प्रत्येक ग्रन्थ की अपनी कुछ न कुछ विशेषता होती है । चान्द्रव्याकरण की भी अपनी विशेषता है–**'चन्द्रोपज्ञम-संज्ञकं व्याकरणम्'** अर्थात् चन्द्र से उपज व्याकरण असंज्ञक है । चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण के प्रारम्भ में ही अपने व्याकरण की विशेषता–**'लघुविस्पष्टसम्पूणमुच्यते शब्दलक्षणम्'** बताई है । अर्थात् चान्द्रव्याकरण पाणिनीय तन्त्र की अपेक्षा लघु, विस्पष्ट और कातन्त्र आदि की अपेक्षा सम्पूर्ण है । अतः चन्द्रगोमिन् ने अपने ग्रन्थ की विशेषता 'सम्पूर्ण' कही है ।

चन्द्राचार्य ने पतञ्जलि के महाभाष्य से बहुत अधिक सहायता ली है । तथा उससे महान् लाभ उठाया है । पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में जिन पाणिनीय सूत्रों अथवा सूत्रांशों को स्थान नहीं दिया, चन्द्राचार्य ने उन्हें अपने व्याकरण में स्वीकार नहीं किया । पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्रों के जिन न्यासान्तरों को निर्दोष बताया था, उन्हें चन्द्रमोमिन् ने ज्यों का ज्यों स्वीकार कर लिया। किन्तु अन्य कोई स्थानों पर पतञ्जलि के व्याख्यान को भी प्रामाणिक न मानते हुए अन्य आचार्यों के मतों को उचित माना

है ।

डा० बेल्वेल्कर और एस. के. डे के मतानुसार, चन्द्रगोमी के बोद्धधर्म अवलम्बी होने के कारण, वेदविषयक सूत्रों को अपने व्याकरण में नहीं रखा । चान्द्र का धातुपाठ जर्मन से छपा हुआ उपलब्ध है । प्रत्याहारों में चन्द्र ने केवल एकसूत्र में परिवर्तन करने के अतिरिक्त सभी पाणिनीय प्रत्याहार ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिए हैं । वर्तमान उपलब्ध चान्द्र व्याकरण असम्पूर्ण है । चान्द्र व्याकरण में वैदिक प्रक्रिया का भी विधान मिलता है । चान्द्र ने धातु पाठ में कई वैदिक पढ़ी है। ऐसा प्रतीत होता है कि चान्द्र व्याकरण के वैदिक और स्वर प्रक्रिया-विधायक दो अध्याय नष्ट हो चुके हैं। डा० बेल्वेल्कर ने चान्द्र व्याकरण को केवल लौकिक भाषा का व्याकरण माना है ।

चन्द्रगोमी के अन्य ग्रन्थ–चान्द्रवृत्ति, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र, लिङ्गानुशासन, उपसर्गवृत्ति, शिक्षासूत्र कोष आदि हैं। चान्द्रगोमिन् ने अपने व्याकरण की रचना मुख्यत: पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पातञ्जल महाभाष्य के आधार पर की थी, किन्तु कुछ भिन्न क्रम तथा पद्धति के आधार पर अपने व्याकरण की सरल, सुगम एवं संक्षिप्त बनाने का प्रयास किया । चान्द्र व्याकरण का मूल उपजीव्य महाभाष्य है । एक समय चान्द्र व्याकरण का प्रचार केवल भारत में ही नहीं, अपितु नेपाल, तिब्बत एवं लंका आदि देशों में भी था । किन्तु बौद्ध धर्म के ह्रास के कारण धीरे-धीरे उसकी लोकप्रियता समाप्त हो गई । वर्त्तमान समय में लंका में प्रचलित प्राय: सभी संस्कृत व्याकरण चान्द्र सम्प्रदाय के हैं, किन्तु उनमें मूल का कोई भी अंश अवशिष्ट नहीं है ।

काशिका–जयादित्य और वामन
THE KAŚIKĀ OF JAYĀDITYA AND VĀMANA

काशिका का परिचय–काशिका का 'वृत्तिग्रन्थ' है । 'काशिका' जयादित्य और वामन विरचित वृत्ति है । काशिकाकार ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में– '**व्युत्पन्नरूपसिद्धिर्वृत्तिरियं काशिका नाम**' के आधार पर काशिका को 'वृत्ति' नाम दिया है । '**वृत्ति**' शब्द '**वृतु**' '**वर्तने**' धातु से '**स्त्रियां क्तिन्**' अष्टा० III.3.94 सूत्र से '**क्तिन्**' प्रत्यय लगाने पर बना है । न्यासकार ने काशिकाकार द्वारा प्रयुक्त '**वृत्ति**' पद की व्याख्या '**पाणिनिप्रणीतानां सूत्राणां विवरणम्**' कह कर दी है। हरदत्त ने '**सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः**' कहकर सूत्रार्थ प्रधान ग्रन्थ को वृत्ति कहा है। काशिका भी सूत्रार्थ प्रधान ग्रन्थ है ।

जयादित्य तथा वामन की वृत्ति सबसे महत्त्वपूर्ण है । इस वृत्ति में अनेक सूत्रों की वृत्ति और उदाहरण अनेक विद्वानों द्वारा विरचित पूर्व वृत्तियों से एकत्रित किए गए हैं । यथा–'**रङ्कोरमनुष्येऽण् च**' (काशिका IV. 2.100) इस सूत्र का व्याख्यान काशिका में महाभाष्य के अनुकूल नहीं है तथा चान्द्र व्याकरण के सूत्र (III.219) से काशिका वृत्ति के व्याख्यान की पुष्टि होती है । इससे ज्ञात होता है कि काशिका एवं चान्द्रव्याकरण का आधार कोई अन्य वृत्ति रही होगी। काशिका से पूर्व भी अष्टाध्यायी पर अनेक विद्वानों (श्वोभूति, व्याडि, कुणि, माथुर, वररुचि आदि) ने वृत्तियाँ लिखी होंगी जो आज उपलब्ध नहीं । इनके नाम से व्याकरणग्रन्थों में यत्र तत्र कुछ उद्धरण मिलते हैं जो इस बात के ज्ञापक हैं कि इनकी अष्टाध्यायी पर कोई वृत्ति अवश्य रही होगी । अतः काशिका में प्राचीन वृत्तियों का यत्र तत्र अनुसरण दिखाई देता है, इस वृत्ति

में महाभाष्य का अनुसरण नहीं किया गया ।

जयादित्य तथा वामन की काशिका वृत्ति 3976 सूत्रों पर रचित है । काशिका वृत्ति आज सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध है । किन्तु फिर भी इस वृत्ति के कर्त्ता एवं काल के विषय में विद्वानों में एकता नहीं है । इसके बारे में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार, काशिकावृत्ति वामन तथा जयादित्य दोनों द्वारा रचित है । कुछ विद्वानों के अनुसार, जयादित्य तथा वामन दोनों ने पृथक्-पृथक् काशिका की रचना की थी । भिन्न-भिन्न विद्वानों ने काशिका वृत्ति का काल भी अपने प्रमाणों के आधार पर चतुर्थ शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक निर्धारित किया है । काशिकाकार के धर्म का विषय भी विवादास्पद है । कुछ विद्वान् इन्हें जैन तथा कुछ इन्हें बौद्ध मानते हैं। काशिका बालशास्त्री द्वारा सम्पादित (पृ० 62) पर जयादित्य लिखता है–**चार्वी बुद्धिः तत्सम्बन्ध ादाचार्योऽपि चार्वी । स लोकायते शास्त्रे पदार्थान् नयते । उपपत्तिभिः स्थिरीकृत्यः शिष्येभ्यः प्रापयति। युक्तिभिः स्थाप्यमानाः सम्मानिताः पूजिता भवन्ति ।**' इससे सिद्ध होता है कि काशिकाकार बौद्ध थे ।

काशिकावृत्ति के रचयिता के सम्बन्ध में–'बहिरंग तथा अन्तरंग' दो प्रकार के प्रमाण मिलते हैं ।

(1) बहिरंग प्रमाणों में सर्वप्रथम चीनी यात्री इत्सिंग ने अपनी भारत यात्रा के वर्णन में 'वृत्तिसूत्र' का उल्लेख जयादित्य की रचना के रूप में किया है । उसने कहीं भी वामन का उल्लेख नहीं किया । वृत्तिसूत्र का उल्लेख करने से इत्सिंग का संकेत काशिका की ओर है । भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य ने भी भाषावृत्ति के अन्तिम श्लोक **'काशयति प्रकाशयति सूत्रार्थमिति काशिका, जयादित्यविरचिता वृत्तिः'** की व्याख्या में काशिका के रचयिता के रूप में जयादित्य का स्मरण किया है । प्रो० मैक्समूलर, प्रो० कीलहार्न तथा प्रो० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने जयादित्य तथा वामन दोनों को ही काशिका का रचयिता स्वीकार किया है । अतः कारिका के रचयिता के विषय में सभी विद्वानों का एकमत नहीं है । लेकिन इससे यह स्पष्ट होता है कि काशिका वृत्ति के रचयिता जयादित्य और वामन दोनों थे ।

(2) वर्तमान उपलब्ध काशिका में आदि से लेकर अन्त तक एक ही प्रकार की शैली दृष्टिगोचर होती है । दो विभिन्न व्यक्तियों की रचना होने पर भी इसके अध्ययन से एक ही शैली दिखाई देती है । फिर भी कुछ उदाहरणों के आधार पर इसमें दो शैलियाँ दृष्टिगोचर होती है । जैसे–'कृत्यतुलाख्या अजात्या' (अष्टा० I.1.68), 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् (अष्टा० II.3.11) 'अधिरीश्वरे' (अष्टा० I. 4.97) आदि के उदाहरणों से विभिन्न शैलियों के दर्शन होते हैं ।

काशिका के प्रथम पाँच अध्यायों का कर्त्ता जयादित्य को तथा अन्तिम तीन अध्यायों का कर्त्ता वामन को स्वीकार किया जाता है । इन उपरिलिखित उदाहरणों से विभिन्न शैलियों के आधार पर काशिका को दो व्यक्तियों की वृत्ति सिद्ध किया जा सकता है ।

काशिका वृत्ति का काल–विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से काशिका के काल को निर्धारित करने का प्रयत्न किया है ।

1. इत्सिंग के लेखानुसार जयादित्य की मृत्यु 661 ई० पूर्व के लगभग हुई थी। इसी लेख के आधार पर प्रो० मैक्मूलर ने काशिका वृत्ति का समय ईसा की सप्तम शती के मध्य का पूर्वभाग स्वीकार किया है। परन्तु यह मत विश्वसनीय नहीं है ।
2. जयापीड़ के कालानुसार कश्मीर के राजा जयापीड़ को प्रो० मैक्स मूलर ने डा० वोथालिक के मत के आधार पर जयादित्य बताया है तथा वामन को उसका सभापण्डित। राजतरङ्गिणी के आधार पर जयापीड़ का काल 8वीं शती है अतः वामन का भी यही काल होगा। परन्तु यह मत भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता ।
3. भर्तृहरि के काल के आधार पर काशिकाकार को भर्तृहरि से उत्तरवर्ती माना जा सकता है परन्तु भर्तृहरि के काल के विषय में सब विद्वान् एकमत नहीं हैं । विभिन्न विद्वानों ने भर्तृहरि को कुमारिल से पूर्ववर्ती मानकर भर्तृहरि का काल 500 ई० पूर्व सिद्ध किया है । अतः काशिका का काल भी भर्तृहरि के आधार पर निश्चित करने की अपेक्षा दिङ्नाग के आधार पर 540 ई० पूर्व निर्धारित किया है ।

4. भावरि के काल के आधार पर काशिका की पूर्वसीमा 539 से 369 ई० पूर्व है। यह सीमा **'प्रमाणासमुच्चय'** के काल के आधार पर काशिका की पूर्वसीमा 540 ई० मानी जा सकती है। डा० कीथ ने भारवि का समय 500 से 550 ई० के मध्य स्थित किया है। प्रो० मैक्डानल तथा वरदाचार्य भारवि का काल 600 ई० के आसपास मानते हैं। प्रो० पाठक 634 ई० स्वीकार करते हैं।
5. भट्टिकाव्य के आधार पर काशिका की अधिक से अधिक उत्तम सीमा 650 ई० ठहरती है। इसके पश्चात् का काशिका को स्वीकार नहीं कया जा सकता।
6. माघ के काल के आधार पर डा० कीथ ने काशिका को माघ से पूर्वर्ती स्वीकार किया है। काशिका को उत्तरसीमा माघ के आधार पर 675 ई० प्राप्त होती है, क्योंकि माघ काशिका से अर्वाचीन है।
7. न्याय के काल के आधार पर, जो कि 600 ई० माना जाता है, काशिका को इससे पूर्ववर्ती मानना होगा। यह उसकी उत्तरी सीमा है। इस प्रकार इस प्रमाण के आधार पर काशिका की उत्तर सीमा 600 ई० है।

काशिका वृत्ति का महत्त्व–

जयादित्य तथा वामन विरचित काशिकावृत्ति का व्याकरण शास्त्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। काशिका अपनी अनेक विशेषताओं के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती है। कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं–

(1) काशिका वृत्ति में गणपाठ को स्थान दिया गया है जो कि प्राचीन वृत्तियों में नहीं था।

(2) काशिका वृत्ति में अनेक सूत्रों की व्याख्या प्राचीन वृत्तियों के आधार पर लिखी गई है। अतः इससे प्राचीन वृत्तियों के सूत्रार्थ जानने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

(3) काशिका में प्राचीन वृत्तियों से उद्धृत उदाहरण प्रत्युदाहरण से अनेक प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान होता है।

इन विशेषताओं के कारण काशिका वृत्ति का सम्पूर्ण संस्कृत

वाङ्मय में महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

काशिकाकार का काल–जयादित्य कृत काशिका का काल 600 तथा 650 ई० के बीच माना जा सकता है तथा जयादित्य का काल 600 ई० के आसपास माना जा सकता है । भागवृत्ति का काल वि० संवत् 702 से 705 तक है । तदनुसार वामन का काल वि०सं० 700 से पूव हो सकता है। 'अलङ्कार शास्त्र,' और 'लिङ्गानुशासन,' के प्रणेता वामन का काल विक्रम की नवम शताब्दी है ।

अन्त में निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काशिका वृत्ति के वामन तथा जयादित्य दोनों ही कर्त्ता हैं । वर्तमान उपलब्ध काशिका में पाँच अध्याय जयादित्य तथा अन्तिम तीन अध्याय वामन द्वारा रचित है । इस प्रकार काशिका में पाणिनीय अष्टाध्यायी के समान आठ अध्याय है ।

जिनेन्द्रबुद्धि और उसका न्यास
JINENDRABUDDHI AND HIS NYĀSA

सामान्य परिचय–

काशिका वृत्ति पर अनेक व्याख्याएँ उपलब्ध है । काशिका वृत्ति पर उपलब्ध इन अनेक व्याख्याओं में से 'बोधिसत्त्व' देशीय आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि विचरित 'काशिका विवरण पञ्जिका, जिसका दूसरा ज्ञान न्याय है, सबसे महत्त्वपूर्ण है । 'न्यास' की रचना पहले भी होती रही है । आचार्य देवनन्दी और मल्लवादि सूरि के नाम से भी 'न्याय, मिलते हैं । माघ के शिशुपालवध में भी एक श्लोक में 'न्याय' का उल्लेख मिलता है–

''अनुसूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव ना भाति राजनीतिरपस्पशा।।''

इस श्लोक में व्याख्यान किए गए 'न्याय' पद के समान शब्दविद्या का व्याख्यान किया है । माघ के 'शिशुपालवध' काव्य में और भामह के अलङ्कार ग्रन्थ में 'न्याय' और 'न्यासकार' पद क्रमशः पठित हैं । भामह आचार्य ने 'अलङ्कारशास्त्र में लिखा है–

''शिष्टप्रयोगमात्रेणम न्यासकारमतेन वा।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथञ्चिद् उदाहरेत्।।''
''सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।
अकेन च न कुर्वीत वृतिस्तद्गमको यथा।।''

भामह का काल निर्धारण 775 ई० पू० किया है । अतः भामह के काल के आधार पर निश्चितरूपेण जिनेन्द्रबुद्धि 750 ई० पूर्व रहे होंगे । पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक इस मत से सहमत नहीं हैं, परन्तु अन्य सभी विद्वान् इससे सहमत है ।

न्यासकार का काल–माघ और भामह आचार्य से जिनेन्द्रबुद्धि के काल को पूर्व मानने पर उन्हें काशिकाकार के समकालीन माना जाता है, परन्तु यह असम्भव प्रतीत होता है । विभिन्न प्रकार से न्यासकार के काल को निर्धारित किया जा सकता है–

(1) पदमञ्जरी के व्याख्याता हरदत्त का काल विक्रम की 12वीं शताब्दी का प्रथम चरण अथवा उससे कुछ पूर्व है । अत: न्यासकार विक्रम की 12वीं शताब्दी के प्रारम्भ से पूर्व के हैं ।

(2) डा० याकोबी ने भविष्यत् पुराण के आधार पर हरदत्त का देहावसान 878 ई० (935 विक्रम) माना है । यदि हरदत्त की यह तिथि प्रमाणान्तर से पुष्ट हो जाए तो न्यासकार का काल सं० 900 विक्रम से पूर्व मानना होगा ।

(3) कैयट और जिनेन्द्रबुद्धि के अनेक वचनों यथा (अष्टा० I.1.44) आदि के परस्पर मिलाने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों में से कोई एक दूसरे से सहायता अवश्य ले रहा है, परन्तु किसी ने किसी का नाम निर्देश नहीं किया ।

सत्यकाम वर्मा के अनुसार 'न्यास' की रचना 700 ई० के आसपास हुई होगी, उससे पूर्व नहीं । उसकी व्याख्या विस्तृत रूप से हरदत्त ने 'पदमञ्जरी' में की है । कैयट ने 'न्यास' का प्रथम उपयोग 'केचित्' आदि नाम से किया है । इससे यह स्पष्ट होता है कि जिनेन्द्रबुद्धि कैयट से पूर्व के हैं, परन्तु कैयट से कितने पूर्व के हैं, यह निश्चित नहीं होता ।

शैली–हरदत्त तथा जिनेन्द्रबुद्धि की रचना की परस्पर तुलना करने से स्पष्ट होता है कि जिनेन्द्रबुद्धि ने अनिवार्य और आवश्यक प्रसंगों की ही चर्चा की है । हरदत्त बहुत अधिक विस्तार से वर्णन करते हैं, जो सामान्य अध्ययन करने वाले के लिए एक कठिन विषय बन जाता है ।

'न्यास' की सर्वप्रधान टीका हरदत्त की पदमञ्जरी है । संक्षिप्त रूप से कहा जा सकता है कि 'न्यास' और 'न्यासकार' का अपना अपना विशेष महत्त्व है ।

हरदत्त एवं उसकी पदमञ्जरी
HARADATTA AND HIS PADMAÑJARĪ

काशिका पर एक अन्य व्याख्या **'पदमञ्जरी'** हरदत्त द्वारा लिखी गई है । इस व्याख्या के अध्ययन से इसके महत्त्व का पता चलता है । हरदत्त ने श्रोतसूत्र और धर्मसूत्र आदि अनेक सूत्रों की व्याख्याएँ भी लिखी हैं । हरदत्त ने **'पदमञ्जरी'** के प्रथम अध्याय में अपनी प्रशंसा में लिखा है–

'प्रक्रिया तर्कगहनं प्रविष्टो हृष्टमानसः।
हरदत्तहरिः स्वैरं विहरन् केन वार्यते॥

परिचय–

हरदत्त ने अपना परिवय पदमञ्जरी ग्रन्थ के प्रारम्भ में इस प्रकार दिया है–

'तातं पद्मकुमाराख्यं प्रणम्याम्बां श्रियं तथा।
ज्येष्ठं चाग्निकुमाराख्याचार्यमपराजितम्॥

अर्थात् हरदत्त के पिता का नाम पद्मकुमार माता का नाम श्रीदेवी, बड़े भाई का नाम अग्निकुमार और गुरु का नाम 'अपराजिता' था । हरदत्त शैव थे तथा उन्होंने पदमञ्जरी के प्रथम श्लोक में शिव को नमस्कार किया है–

'तस्मै शिवाय परमाय तथाव्याय साम्वाय सादरमयं विहितः प्रणामः।'

देश–हरदत्त स्वयं को **'दक्षिण'** देशवासी बतलाते हैं । पदमञ्जरी भाग 2 में पाए जाने वाले एक श्लोकानुसार ये द्रविड़ देश के निवासी थे–?

'लेट् शब्दस्तु वृत्तिकारदेशे जुगुप्सितः।
यथा अत्र द्रविडदेशे निविशब्दः।'

कुछ अन्य ग्रन्थों के आधार पर हरदत्त कावेरी नदी के समीप किसी देश के रहने वाले थे । इस विषय में कई प्रमाण उपलब्ध हैं–

1. गौतमधर्मसूत्र में प्रमाण मिलता है–**'अनुष्ठानमपि चोलदेशे प्रायेणैवम्'** (XV.44)

2. एक अन्य प्रमाण आपस्तम्ब गृह्यसूत्र की टीका में मिलता है–

   'यस्यां वसन्ति यामुपजीवन्ति। यथा तीरेण कावेरि तव।'

   (146)

3. गौतमधर्मसूत्र की टीका में मिलता है–

   'किलासः त्वग्दोषः तेमिल् इति द्रविड़भाषायां प्रसिद्धः।

   (I.18)

इन प्रमाणों से हरदत्त का निवास स्थान कावेरी नदी के किनारे पर द्रविड़ देश सिद्ध होता है ।

काल–हरदत्त के ग्रन्थ के आधार पर उसके काल को निर्धारित नहीं किया जा सकता क्योंकि उन्होंने ऐसी कोई घटना अपनी पुस्तक में नहीं दी जिसके आधार पर उनके काल का निर्धारण किया जा सके । उनके काल निर्घारण में निम्नलिखित प्रमाण दिए जा सकते हैं ।

(i) कैयट की प्रदीप नाम्नी टीका से पदमञ्जरी पश्चाद्वर्ती है । हम कैयट को 800 A.D. मानते हैं। अतः हम हरदत्त को 878 A.D. मान सकते हैं । लेकिन अनेक विद्वान् इस मत से सहमत नहीं है और हरदत्त का समय 1100 A.D. स्वीकार करते हैं ।

(ii) भविष्यत् पुराण में हरदत्त नाम का उल्लेख है जिसे शिव का भक्त माना गया है । तथा उसकी मृत्यु कलियुग के प्रारम्भ होने के 3979 वर्ष पश्चात् हुई । जो वर्तमान समय में 878 A.D. बैठता है । डा० याकोबी ने भी हरदत्त का काल 878 AD के आस पास स्वीकार किया है । लेकिन यह हरदत्त पदमञ्जरी का व्याख्याता हरदत्त नहीं है ।

अतः हरदत्त का काल निर्धारण 1050 ई० के लगभग किया जाता है । यही उचित प्रतीत होता है ।

शैली–हरदत्त स्वतन्त्र रूप से प्रत्येक बात को अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं । वे प्रत्येक प्रसंग में अपने सम्पूर्ण ज्ञान का प्रदर्शन करते हैं । उनकी सम्पूर्ण कृति आरम्भ से अन्त एक वेदविज्ञ की रचना मानी जाती है । उनके इस ग्रन्थ की रचना शैली में सरलता का अभाव है । इसी अभाव के कारण इसका अधिक प्रचार न हो सका ।

भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय
BHARTṚHARI'S VĀKYAPADĪYA

पतञ्जलि के अनन्तर भर्तृहरि का संस्कृत व्याकरण में महत्त्वपूर्ण स्थान है । महाभाष्य पर भर्तृहरि की टीका सबसे प्राचीन और प्रामाणिक मानी जाती है । महाभाष्य की अनेक टीकाओं में भर्तृहरिकृत महाभाष्य दीपिका उल्लेखनीय है । महत्त्व की दृष्टि से भर्तृहरि अपने पूर्ववर्त्तियों से कहीं आगे बढ़े हुए है ।

परिचय–भर्तृहरि के किसी ग्रन्थ में भर्तृहरि का परिचय नहीं मिलता। भारतीय परम्परा के अनुसार भर्तृहरि महाराज विक्रमादित्य के छोटे भाई माने जाते हैं । चीनी यात्री इत्सिंग के मतानुसार **'वाक्यपदीय और महाभाष्य दीपिका'** के रचयिता भर्तृहरि बौद्ध धर्म अवलम्बी थे । महावैयाकरण भर्तृहरि ने बौद्ध धर्म के अन्तर सात बार प्रव्रज्या ली और फिर संसार में लौट आए। किन्तु, यही वह प्रतिभा थी जिसमें **'वाक्यपदीय'** की रचना कर संसार को आश्चर्य चकित कर दिया ।

वाक्यपदीय और महाभाष्य टीका के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि भर्तृहरि वैदिक धर्मी थे। भर्तृहरि वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में लिखते हैं–**न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।** पुनः लिखते हैं–**वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्॥**

इन उदाहरणों से यह प्रतीत होता है कि भर्तृहरि बौद्धमतावलम्बी नहीं थे ।

काल–महावैयाकरण भर्तृहरि के काल निर्धारण में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । भर्तृहरि के काल के विषय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत है । भर्तृहरि का काल निर्णय कुछ निम्न प्रमाणों के आधार

पर निर्धारित किया जा सकता है–

(i) चीनी यात्री इत्सिंग के लेखानुसार उनके भारत आगमन पर, भर्तृहरि की मृत्यु हुए 40 वर्ष हो गए थे। इत्सिंग का भारत आगमन समय 692 ई० माना जाता है । इत्सिंग ने भर्तृहरि को जयादित्य का समकालिक माना है । कुछ विद्वान् इत्सिंग के विचार से सहमत नहीं है। इत्सिंग भर्तृहरि की मृत्यु 650 ई० मानते हैं । उनके अनुसार भर्तृहरि ने लगभग 650 ई० से पहले **'वाक्यपदीय'** की रचना की थी। अत: इत्सिंग के मतानुसार भर्तृहरि का समय 650 ई० है ।

(ii) महामहोपाध्याय काशीनाथ अभयङ्कर: भर्तृहरि को काशिकाकार का वृद्ध समकालिक स्वीकार करते हैं। काशिका का समय वे सातवीं शती ई० मानते हैं । परन्तु डा० अभयंकर का यह काल निर्णय निराधार प्रतीत होता है ।

(iii) इसमें कोई सन्देह नहीं कि दुर्गसिंह कृत कातन्त्र की वृत्ति काशिका से पूर्ववर्ती है । धातु वृत्ति के रचयिता सायण के अनुसार वामन ने काशिका में दुर्गवृत्ति का उल्लेख किया है । वृत्तिकारात्रेयवर्धमानादिभिरप्येतद्दूषितम् (काशिका VII.4.93) दुर्गसिंह ने कातन्त्र की वृत्ति में लिखा है–

यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेन प्रतीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते॥

यह कारिका वाक्यपदीय से ली गई है। इससे यह सिद्ध होता है कि भर्तृहरि काशिका से पूर्ववर्ती दुर्गसिंह से भी पूर्व के हैं ।

(iv) हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड की टीका में भर्तृहरि के वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक का कुछ अंश उद्धत किया है–
''अन्ये तु शब्दब्रह्मैवेदं विवर्तते अर्थभावेन प्रक्रिया इत्यत आहु:।''
हरि स्वामी ने अपनी शतपथ टीका के प्रथम काण्ड के अन्त में भी एक श्लोक दिया है जिसके अनुसार कलि संवत् 3740 अर्थात् विक्रम सं० 695 में शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड की टीका हरिस्वामी की स्वत: सिद्ध होती है । परन्तु वि०सं० का प्रारम्भ कलिसम्वत् 3045 से होता है । इससे भर्तृहरि हरिस्वामी से पूर्व के

सिद्ध होते हैं ।

(v) प्रभाकर भट्ट को कुमारिल का शिष्य स्वीकार किया जाता है । कुमारिल को याकोबी और कीथ ने प्रभाकर के 100 साल बाद माना है । उनके अनुसार प्रभाकर 600 ई० और कुमारिल 700 ई० के लगभग हुए हैं । कुमारिल का समय मैकडानल 700 और बर्नेल एवं वेबर 650 ई० के बाद मानता है । अतः भर्तृहरि कुमारिल से पूर्व अर्थात् 650 ई० से पूर्व हो चुके थे ।

(vi) इत्सिंग की गणना के अनुसार वाग्भट्ट के **'अष्टाङ्ग हृदय'** की 'इन्दु' टीका भर्तृहरि के 50-100 साल के अन्दर ही लिखी गई है । इससे यह सिद्ध होता है कि भर्तृहरि किसी भी प्रकार वि०सं० 400 से उत्तरवर्त्ती नहीं है ।

इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि भर्तृहरि एक बहुत ही प्राचीन ग्रन्थकार हैं । कीथ भर्तृहरि का काल 650 ई० से पूर्व ही मानते हैं। पण्डित रामकृष्ण कवि ने भर्तृहरि कृत **'जैमिनीय मीमांसा वृत्ति'** को शबर स्वामी के मीमांसा भाष्य से प्राचीन बताया है । शबर स्वामी का काल हर दशा में कीथ आदि 600 ई० से बहुत पहले मानते हैं । महाभाष्य दीपिका में दिए गए मीमांसकों के उद्धरण से प्रतीत होता है कि भर्तृहरि कदाचित् शबर के भाष्य से परिचित नहीं थे ।

युधिष्ठिर मीमांसक ने वैयाकरण भर्तृहरि को वि०पू० 400 के आस-पास सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । अतः अन्तिम निर्णयानुसार भर्तृहरि को 500 ई० के आसपास ठहराया जा सकता है ।

भर्तृहरि का वाक्यपदीय व्याकरण दर्शन
BHARTṚHARI'S VĀKYAPADĪYA! PHILOSOPHY OF GRAMMAR

संस्कृत वाङ्मय में भर्तृहरि विरचित अनेक ग्रन्थ उपलब्ध और अनुपलब्ध हैं । महाभाष्य दीपिका या त्रिपदी, वाक्यपदीय, वाक्यपदीय स्वोपज्ञ, वृत्ति, नीति, शृङ्गार और वैराग्यशतक, जैमिनीयमीमांसावृत्ति, वेदान्तसूत्रवृत्ति, शब्दधातुसमीक्षा, भट्टिकाव्य, भागवृत्ति–ये सभी रचनाएँ भर्तृहरि द्वारा रचित हैं। इनमें से कुछ रचनाएँ उपलब्ध तथा कुछ अनुपलब्ध है ।

महाभाष्य की टीकाओं में भर्तृहरि कृत महाभाष्य दीपिका सबसे प्राचीन है । उसका हस्तलेख बर्लिन के पुस्तकालय में है, जिसकी सूचना सर्वप्रथम डा० कीलहार्न ने और फिर बूलर ने भारतीयों को दी थी ।

भर्तृहरि अपने मुख्य ग्रन्थ **'वाक्यपदीय'** के कारण प्रसिद्ध हैं । भर्तृहरि के वाक्यपदीय में तीन काण्ड हैं–ब्रह्म अथवा आगम, वाक्य और पद या प्रकीर्ण काण्ड । यह ग्रन्थ अद्भुत तथा अद्वितीय है । भर्तृहरि ने इस ग्रन्थ को परिपूर्ण दर्शन का रूप प्रदान किया है । भर्तृहरि ने तीनों काण्ड स्वतंत्र रूप से लिखे थे और परस्पर आश्रित सम्बद्ध रूप में भी । **'आगम काण्ड'** को विद्वान् भर्तृहरि की स्वतंत्र कृति मानते हैं । इसका प्रमाण भर्तृहरि द्वितीय काण्ड के अन्त में निम्न श्लोक के रूप में देते हैं–

न्यायप्रस्थानमार्गास्तानभ्यस्य स्व च दर्शनम्।
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः।।

प्रथम काण्ड अर्थात् ब्रह्म काण्ड में–शब्द क्या है ? शब्दानुशासन तथा शब्द और अर्थ में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? दोनों का साधुत्व–असाधुत्व तथा

व्याकरण का प्रयोजन आदि सभी मुख्य विषय वर्णित हैं ।

वाक्यपदीय के सार का आधार द्वितीय काण्ड अर्थात् वाक्य काण्ड है । इसमें वाक्य की अखण्डता के सिद्धान्त को वर्णित किया गया है । इसका महत्त्व इसके अन्तिम दश श्लोकों में महाभाष्य की ऐतिहासिक स्थिति और पुनरुद्वार के कारण अधिक है । इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण विषय 'अर्थ विचार' का वर्णन उपलब्ध होता है । अर्थ क्या है ? अर्थ के कितने भेद है ? गौण और मुख्य अर्थ क्या है ? इत्यादि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का वर्णन है ।

तृतीय काण्ड अर्थात् पद अथवा प्रकीर्ण काण्ड में प्रायः व्याकरण के सभी विषयों का वर्णन है । जाति, व्यक्ति, द्रव्य और पदार्थ, शब्दार्थ सम्बन्ध, पुरुष, क्रिया, काल, लिङ्ग आदि सभी विषय इसी काण्ड से सम्बन्धित हैं । इत्सिंग के लेख से यह ज्ञात होता है कि 'महाभाष्य दीपिका' में मूल मिलाकर 25000 (पच्चीस हजार) श्लोक थे, परन्तु इत्सिंग के लेख में इस प्रकार का कोई भी संकेत नहीं है जिसके आधार पर यह निर्णय किया जा सके कि उन्होंने महाभाष्य के कितने अंश पर टीका लिखी थी। वर्धमान जिनका समय विक्रम की बारहवीं शती है, लिखता है–**भर्तृहरिर्वाक्यपदीय-प्रकीर्णयोः कर्त्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च** । भर्तृहरि की दोनों रचनाओं–**'वाक्य-पदीयम्'** तथा **'महाभाष्य दीपिका'** की रचना शैली सरल है । परन्तु व्याकरण-सम्बन्धी विवेचन की सूक्ष्मता की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है ।

'वाक्यपदीयम्' के आधार पर अब तक कई अनुसन्धानात्मक कार्य हो चुके है। आगम काण्ड पर अनेक टीकाएँ निकल चुकी है। भर्तृहरि को पहला दार्शनिक वैयाकरण माना जाता है । भर्तृहरि को महावैयाकरण कह कर भी **'महाभाष्य'** का टीकाकार, **'वाक्यपदीय'** का रचयिता, **'भट्टिकाव्य'** का कवि और **'भागवृत्ति'** का वृत्तिकार होने के साथ-साथ कुछ अन्य कृतियों का लेखक भी स्वीकार किया जाता है ।

कैयट एवं उसकी टीका प्रदीप
KAIYAṬA'S PRADĪPA

टीका का सामान्य परिचय–महाभाष्य के अनेक टीकाकारों में भतृहरि के पश्चात् कैयट का नाम आता है । महाभाष्य की '**प्रदीप**' नाम्नी व्याख्या कैयट ने लिखी है । महाभाष्य दीपिका के बाद '**प्रदीप**' व्याख्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है । '**प्रदीप**' टीका को '**प्रदीप भाष्य**' अथवा '**महाभाष्य प्रदीप**' भी कहा जाता है । महाभाष्य प्रदीप की अत्यधिक महत्ता के कारण अनेक वैयाकरणों ने इस पर टीकाएँ भी लिखी है–चिन्तामणि का '**महाभाष्य कैयट प्रकाश**,' शेष नागनाथ का '**महाभाष्य प्रदीपोद्योतन**;' रामचन्द्र सरस्वती ने '**महाभाष्य प्रदीप**' पर **विवरण**' नाम्नी लघु व्याख्या लिखी है। नाम की टीका लिखी है। ईश्वरचन्द्र सरस्वती ने कैयट के गन्थ पर '**महाभाष्य प्रदीप विवरण**' नाम की टीका लिखी है । अन्नम्भट्ट ने '**प्रदीपोद्योतन**' तथा '**नागेशभट्ट**' ने '**उद्योत**' नाम की टीका लिखी है। कैयट ने सम्पूर्ण 'प्रदीप' में केवल एक जगह पर भर्तृहरि-कृत '**महाभाष्य दीपिका**' की ओर संकेत किया है ।

विशेषता–कैयटकृत '**प्रदीप**' नाम्नी टीका की सबसे बड़ी विशेषता इसकी संक्षिप्तता है । संक्षेप के साथ स्पष्टीकरण भी एक '**प्रदीप**' टीका की विशेषता है । कैयट ने महाभाष्य का अनुसरण किया है । तथा महाभाष्य के भाव को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है । भर्तृहरि की टीका '**त्रिपदी**' ही कैयट की '**प्रदीप**' टीका की संक्षिप्तता का आधार मानी जाती है ।

परिचय–'**महाभाष्य प्रदीप**' के प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक पंक्ति मिलती है–**इति उपाध्याय जैयट पुत्र कैयट कृते महाभाष्य-प्रदीपे**'-इस

पंक्ति के अनुसार कैयट के पिता का नाम जैयट उपाध्याय सिद्ध होता है। भीमसेन ने मम्मटाचार्य कृत **'काव्यप्रकाश'** की **'सुधारसागर'** नाम्नी व्याख्या में कैयट और उब्बट को मम्मट के दो छोटे भाई बताया है। परन्तु उव्वट का यजुर्वेद भाष्य देखने से ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम वज्रट था (**आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटस्य च सूनुना। उव्वटेन कृतं भाष्यम्**)। अतः भीमसेन का कथन उचित प्रतीत नहीं होता है। बेल्वेल्कर कैयट के गुरु का नाम **'महेश्वर'** बताता है। कैयट के शिष्य का नाम **'उद्योतकर'** था। उद्योतकर ने भी व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी किसी ग्रन्थ की रचना की थी। चन्द्रसागर सूरि ने **'हैमबृहद्वृत्ति'** की व्याख्या में उसके कुछ उदाहरण दिए हैं।

देश–कैयट, मम्मट, उव्वट, रुद्रट, उद्भट आदि नामों के सादृश्य से प्रतीत होता कि कैयट कश्मीर देश का निवासी था। महाभाष्य के व्याख्यान में कैयट द्वारा लिखित एक पंक्ति से भी कैयट का कश्मीर देशज होना पुष्ट होता है।–**'यथा वृक्षोपरि द्राक्षादिलता।'**

काल–कैयट के काल की निश्चित रूप से एक तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती। कैयट के काल निर्धारण के लिए कुछ बाह्य साक्षयों को प्रमाण माना गया है–

(i) सर्वानन्द ने अमरकोष की अपनी व्याख्या में **'मैत्रेयरक्षित'** द्वारा लिखित **'धातु प्रदीप'** का उल्लेख किया है तथा इस व्याकरण की रचना संवत् 1215 में हुई थी।

(ii) मैत्रेयरक्षित तन्त्रप्रदीप में कैयट का नामोल्लेख कज्जट के नाम से करते हैं यथा–**'कज्जटस्तु कार्तिक्याः प्रभृतीति भाष्यकार-वचनादेवविष- विषये पञ्चमी भवतीति मन्यते।'**

(iii) धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थ **'रूपावतार'** में पदमञ्जरी के लेखक **'हरदत्त'** का उल्लेख किया है। हरदत्त अपनी पदमञ्जरी में कैयट के अनेक वचनों को 'अन्ये' 'अपरः' 'आह च' आदि वचनों के द्वारा उद्धृत करता है। हरदत्त द्वारा कैयट का अनुकरण करना भाष्य व्याख्याप्रपञ्चकार ने भी माना है। (प्राचीन वृत्ति टीकायां

कज्जटमतानुसारिणा हरिमिश्रेणापि) । इससे प्रतीत होता है कि कैयट हरदत्त से पूर्ववर्ती हैं ।

अतः यह कहा जा सकता है कि कैयट का काल अधिक से अधिक विक्रम की 11वीं शताब्दी का उत्तरार्ध हो सकता है तथापि इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह इससे पूर्ववर्त्ती ग्रन्थकार हो।

भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी और अन्य कार्य

BHAṬṬOJI'S SIDDHĀNTA KAUMUDĪ AND OTHER WORKS

पाणिनीय व्याकरण पर भट्टोजिदीक्षित की **'सिद्धान्तकौमुदी'** नाम्नी व्याख्या अत्यनत प्रसिद्ध है । भट्टोजिदीक्षित ने पाणिनि की सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर विचार करने के उपरान्त व्याख्या लिखी है । **'सिद्धान्तकौमुदी'** से पूर्व के व्याख्यान ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के पूरे सूत्रों का व्याख्यान नहीं किया गया था । भट्टोजिदीक्षित ने इस कमी को पूरा करते हुए सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर विचार करके **'सिद्धान्तकौमुदी'** ग्रन्थ की रचना की है ।

परिचय–भट्टोजि दीक्षित महाराष्ट्र के रहने वाले थे । इनके पिता लक्ष्मीधर और छोटे भाई रंगोजिभट्ट थे । बेटे का नाम भानुजि दीक्षित था। गुरु का नाम **'शेषकृष्ण'** था ।

काल–भट्टोजिदीक्षित के काल के विषय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत पाए जाते हैं । अभयङ्कर के मतानुसार, भट्टोजिदीक्षित का काल सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है, किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध मानते हैं । डा० बेल्वेल्कर भट्टोजिदीक्षित का काल 1600 से 1650 ई० के बीच मानते हैं । इतिहासकार भट्टोजिदीक्षित का काल 1630 ई० से पूर्व निर्धारित करते हैं । मीमांसक के मतानुसार, नागेश के शिष्य बालशर्मा कोलब्रुक के समकालीन थे । कोलब्रुक का भारतप्रवास का समय 1783–1815 ई० है । अतः नागेश का समय उससे कुछ पूर्व माना जा सकता है। कीथ के मतानुसार, भट्टोजिदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ का समय 1650 के लगभग निर्धारित किया जा सकता है । पण्डितराज निश्चय

ही 1600 ई० से पूर्व रखे जा सकते हैं । अतः डा० बेल्बेल्कर का मत 1600 ई० ही उचित माना जा सकता है ।

सिद्धान्तकौमुदी–भट्टोजिदीक्षित ने सर्वप्रथम **'शब्दकौस्तुभ'** की रचना की । **'सिद्धान्तकौमुदी'** उनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है । भट्टोजि दीक्षित की **'सिद्धान्तकौमुदी'**–**'प्रौढ मनोरमा'** के नाम से प्रसिद्ध है । इसमें **'प्रक्रिया कौमुदी'** तथा उसकी टीकाओं का खण्डन किया गया है । भट्टोजिदीक्षित कृत **'प्रौढ़ मनोरमा'** पर उनके पौत्र हरिदीक्षित ने **'बृहच्छब्दरत्न'** और **'लघु शब्द रत्न'** दो व्याख्याएँ लिखी हैं ।

'प्रौढ़ मनोरमा' का संवत् 1708 का एक हस्तलेख पूना के भण्डारकर प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान में विद्यमान है ।

महत्त्व–भट्टोजिदीक्षित की **'सिद्धान्तकौमुदी'** व्याकरा के नव अध्येताओं के लिए एक महत्त्वपूर्ण रचना सिद्ध हुई है । इसके दो अन्य संस्कारण मध्यकौमुदी और लघुकौमुदी भी है । भट्टोजि की **'सिद्धान्त कौमुदी'** का आधार **'रामचन्द्र'** की प्रक्रियाकौमुदी है । **'सिद्धान्तकौमुदी'** में पाणिनीय व्याकरण के सम्पूर्ण सूत्रों का व्याख्यान होने के कारण इसका प्रचार प्रक्रियाकौमुदी से अधिक हुआ । **'प्रक्रिया कौमुदी'** में बहुत से व्याकरण के सूत्रों को छोड़ दिए जाने के कारण तथा महाभाष्य की भावना का पूर्ण अनुकरण होने के कारण यह अधिक प्रचलित न हो सकी ।

यद्यपि **'प्रक्रियाकौमुदी'** किसी भी दृष्टि से **'सिद्धान्तकौमुदी'** से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, फिर भी **'सिद्धान्तकौमुदी'** का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है भट्टोजि की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन-**'प्रौढ़ मनोरमा'** टीका के कारण ही **'सिद्धान्तकौमुदी'** का महत्त्व अधिक है । **'सिद्धान्तकौमुदी'** पर भी अनेक टीकाएँ लिखी गई है। ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने सिद्धान्तकौमुदी की **'तत्वबोधिनी'** नाम्नी व्याख्या लिखी है। शेषवंशीय रामचन्द्र ने सिद्धान्तकौमुदी के स्वर प्रक्रिया अंश की व्याख्या लिखी है ।

शब्दकौस्तुभ–जहाँ महाभाष्य, प्रदीप, त्रिपाठी आदि ग्रन्थों का अपना अपना महत्त्व है वहाँ भट्टोजिदीक्षित का 'शब्दकौस्तुभ' इन सबसे भिन्न और अपने ढंग का अनूठा ग्रन्थ है । इसका अपना अलग अस्तित्व है । इसमें महाभाष्य का अनुसरण नहीं किया गया है । युधिष्ठिर मीमांसक इसे 'अष्टाध्यायी' का 'वृत्ति ग्रन्थ' बताते हैं ।

शैली की दृष्टि से यह 'महाभाष्य' की परम्परा में रहकर भी, विषय की दृष्टि से 'वाक्यपदीय' की परम्परा में रहा है । इसमें साधुत्व-असाधुत्व विषयों पर विचार किया गया है । यह ग्रन्थ आजकल खण्डित अवस्था में उपलब्ध होता है ।

यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्–पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि इन तीन महान् वैयाकरणों को अभिलक्ष्य करके लिखी गई भट्टोजि दीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी की टीका प्रौढमनोरमा की यह उक्ति व्याकरण सम्प्रदाय में बहुत अधिक प्रसिद्ध है । इसके अनुसार उत्तरोत्तर मुनियों अर्थात् पाणिनि की अपेक्षा कात्यायन और कात्यायन की अपेक्षा पतञ्जलि के मत अधिक सम्पुष्ट हैं परन्तु लेखक इस उक्ति से सहमत नहीं है । क्योंकि कात्यायन के वार्त्तिकों में मौलिकता का सर्वथा अभाव है, उन्होंने पाणिनि के सूत्रों की छत्रछाया में ही कुछ बातें सुझायी हैं, जिनका प्रयोग पतञ्जलि ने खण्डन कर, पुनः पाणिनि के मत को ही ठीक ठहराया है । अतः भट्टोजिदीक्षित की यह उक्ति बालुका की उस भित्ति पर टिकी हुई है जिसके लिए तेज हवा का एक झौंका ही पर्याप्त होगा ।

सोलहवीं शती से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन प्रक्रिया ग्रन्थों के आधार पर होने लगा और यह दौर लगभग 400 वर्ष तक चलता रहा । उन्नीसवीं शती के अन्त में स्वामी विरजानन्द सरस्वती और उनके शिष्य महर्षि दयानन्द सरस्वती ने फिर से अष्टाध्यायी क्रम को पुनर्जीवित किया । आजकल अष्टाध्यायी क्रम का पठन-पाठन स्वामी ओझानन्द सरस्वती के दो गुरुकुलों, आर्याविद्यापीठ गुरुकुल झज्जर और कन्या गुरुकुल नरेला में हो रहा है। श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक के यहाँ भी इसी क्रम से अध्यापन हो रहा है ।

नागेशभट्ट एव उनका कार्य
NAGEŚABHAṬṬA AND HIS WORK

सामान्य परिचयः—नागेश भट्ट ने पारिणनीय व्याकरण पर स्वतन्त्र रूप से व्याख्यान किया है । नागेश भट्ट ने अनेक महत्त्वपूर्ण अङ्गों क्षेत्रों तथा व्याकरण दर्शन को अपने अध्ययन का विषय बनाया तथा उसे आलोकित एवं समृद्ध किया । नागेश भट्ट की दो प्रमुख रचनाएँ हैं—**वैयाकरण सिद्धान्तमञ्जूषा** एवं **परमलघुमञ्जूषा**। नागेशभट्ट महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत, लघु शब्देन्दुशेखर, वृहच्छब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर, स्फोटवाद आदि अनेक व्याकरण शास्त्र के ग्रन्थों के रचयिता हैं । ये सभी ग्रन्थ नागेश की ख्याति का आधार माने जाते हैं, केवल प्रदीपोद्द्योत हो नहीं ।

नागेश भट्ट ने कार्य करने की प्रेरणा भट्टोजिदीक्षित से प्राप्त की। भट्टोजि के पौत्र हरिदीक्षित थे । एक अनुश्रुति के अनुसार, हरिदीक्षित से नागेशभट्ट ने महाभाष्य का 18 बार अध्ययन किया था ।

परिचय—नागेश भट्ट महाराष्ट्र के निवासी थे । नागेश भट्ट का अपर नाम नागोजीभट्ट था। पिता का नाम शिवभट्ट और माता का नाम सती देवी था । वैद्यनाथ पायगुण्ड उनके प्रधान शिष्य थे । नागेशभट्ट सन्तानहीन थे । उन्होंने शब्देन्दुशेखर को पुत्र का मञ्जूषा को कन्या माना है । **लघुशब्देन्दुशेखर** के इस अन्तिम श्लोक—

शब्देन्दुशेखरः पुत्रो मञ्जूषा चैव कन्यका।
स्वमतौ सन्यग् उत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया॥

से नागेशभट्ट का सन्तानहीन होना विदित होता है । नागेश्वरभट्ट ने शृङ्गवेरपुर के राजा श्री रामसिंह की उदारता एवं वीरता का उल्लेख लघु मञ्जूषा के अन्तिम श्लोक में किया है । अपने जीवन के अन्तिम दिनों में

नागेश भट्ट ने सन्यास धारण कर लिया था। नागेश भट्ट ने अपने गुरु के रूप में हरिदीक्षित से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था तथा न्याय दर्शन का अध्ययन **रामभट्ट** नामक विद्वान् से किया था। नागेशभट्ट के शिष्य वैद्यनाथ ने प्रदीपोद्द्योत की छाया नामक व्याख्या तथा वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा पर कला नाम की टीका लिखी ।

काल–नागेश भट्ट के प्रमुख ग्रन्थ 'वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा' के हस्तलेख का समय 1708 ई० है तथा महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत के हस्तलेख का समय 1738 ई० है । इन दोनों ग्रन्थों में एक दूसरे का निर्देश मिलता है । इनके आधार पर नागेशभट्ट का समय 1670–1680 ई० माना जाता है । श्री पी० वी० काणे ने नागेश की ग्रन्थ रचना का काल 1700–1750 ई० माना है । हरप्रसाद शास्त्री ने नागेश की मृत्यु का काल 1775 ई० माना है, परन्तु पी० वी० काणे इस मत को स्वीकार नहीं करते। एक अनुश्रुति है कि जयपुर के राजा जयसिंह ने सम्बत् 1772 में इन्हें अपने अश्वमेध यज्ञ में आमन्त्रित किया था परन्तु नागेश ने क्षेत्र सन्यासी होने के कारण वहाँ जाना स्वीकार नहीं किया। इससे नागेश का समय 1714 ई० के लगभग निर्धारित होता है । भट्टोजिदीक्षित का समय 17वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है क्योंकि इनके एक शिष्य नीलकण्ठ शुक्ल ने अपना एक ग्रन्थ 1663 वि. सं. में लिखा था । अतः नागेशभट्ट को 17वीं शताब्दी के अन्तिम तथा 18वीं शताब्दी के प्रथम चरण के मध्य में माना जा सकता है ।

विवरण या उद्योतः–नागेश की प्रदीप टीका का ही नाम **विवरण** है । आरम्भ में नागेश ने इसे **प्रदीप व्याख्यान** कहा है । इसकी विशेषता यह है कि भाष्याभिप्राय मात्र को समझना ही इसका लक्ष्य नहीं अपितु अस्पष्ट बातों को पूर्ण स्पष्ट करना भी है ।

पाणिनि के सहायक ग्रन्थ अथवा पञ्चाङ्ग व्याकरणम्

TREATISES ACCESSORY TO PĀṆINI'S GRAMMAR

संस्कृत व्याकरण उस समय तक पूर्ण व्याकरण नहीं कहा जा सकता, जब तक कि अपने पाँचों अङ्गों सहित उपलब्ध न हो । अतः संस्कृत व्याकरण के लिये **'पञ्चाङ्ग व्याकरणम्'** शब्द का प्रयोग किया जाता है। संस्कृत व्याकरण शास्त्र के निम्न पाँच अङ्ग माने गये हैं–(i) शब्दानुशासन (सूत्रपाठ) (ii) धातुपाठ (iii) गणपाठ, (iv) उणादिपाठ तथा (v) लिङ्गानुशासन । इन पाँचों अङ्गों में से मुख्य अङ्ग शब्दानुशासन माना जाता है । शेष अङ्ग गौण माने जाते हैं । पाणिनि ने अपने व्याकरण शास्त्र में इन पाँचों अङ्गों को स्थान दिया है–

(i) **शब्दानुशासनः**–शब्दानुशासन पाणिनि कृत अष्टाध्यायी है । सूत्र ग्रन्थों की रचना शैली में **'अथ शब्दानुशासनम्'** वचन पाणिनीय ही प्रतीत होता है । **'अथ शब्दानुशासनम्'** सूत्र के पाणिनीय होने में युधिष्ठिर मीमांसक कुछ प्रमाण इस प्रकार देते हैं–

1. अष्टाध्यायी के कई हस्तलेखों का प्रारम्भ इसी सूत्र से होता है।
2. काशिका और भागवृत्ति में भी इस सूत्र की व्याख्या मिलती है ।
3. भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य के इन शब्दों से भी वह सूत्र पाणिनीय ही प्रतीत होता है–**व्याकरणशास्त्रमारभमाणो भगवान् पाणिनिमुनिः प्रयोजननामनी व्याचिख्यासुः प्रतिजानीते अथ शब्दानुशासनमिति ।**

4. मनुस्मृति के व्याख्याता मेधातिथि भी इसे पाणिनीय सूत्र मानते हैं ।
5. न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि की काशिका व्याख्या में भी इसका उल्लेख मिलता है ।

इन प्रमाणों से **अथ शब्दानुशासनम् सूत्र** पाणिनीय ही प्रतीत होता है । प्रात्याहार सूत्र भी पाणिनीय हैं ।

(ii) **धातुपाठ**–पाणिनि से पूर्व धातुपाठ की परम्परा प्रारम्भ हो चुकी थी सर्वप्रथम मुनि शाकटायन ने निश्चितरूपेण धातुपाठ लिखा था । अत: पाणिनि से पूर्व धातुपाठ की परम्परा सुदृढ़ हो चुकी थी । आजकल प्रचलित धातुपाठ पाणिनि प्रोक्त है । अपिशलि के धातुपाठ का प्रमाण जिनेन्द्र बुद्धि के न्यास से मिलता है, जिसके अनेक स्थलों पर पाणिनि से भिन्न धातुरूप और उनके गण स्वीकार करते हुए आपिशालि की चर्चा की है । युधिष्ठिर मीमांसक के मतानुसार "सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में आचार्य पाणिनि का शब्दानुशासन ही एकमात्र ऐसा आर्षतन्त्र है, जो अपने पाँचों अवयवों सहित उपलब्ध है।" पाणिनि के धातुपाठ में 2000 धातुओं का प्रयोग है । परस्मैपदी, आत्मनेपदी तथा उभयपदी इन तीनों प्रकार की धातुओं का प्रयोग मिलता है ।

(iii) **गणपाठ**–गणपाठ अष्टाध्यायी का महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अङ्ग है । पतञ्जलि के अुनसार पाणिनि ने पहले गणपाठ तथा पीछे सूत्र बनाए । गणपाठ का उद्देश्य है अनेक परस्पर शब्दों को व्याकरण के एक नियम के अन्तर्गत लाना । **'पञ्चाङ्ग व्याकरणम्'** में गणपाठ का तृतीय स्थान है । व्याकरण को छोटे से छोटा रूप देने के लिए पाणिनि ने गणों को रचा है । ये गण 200–250 के लगभग है। गण का अर्थ है समूह। पाठ का अर्थ है पढ़ना अर्थात् कुछ शब्दों का संग्रह। तदनुसार गण शब्द का मूल अर्थ है–जिनकी गणना की जाए । गणों का क्रम विशेष से पढ़े गए शब्द समूहों का जिस ग्रन्थ में पाठ होता है, उसे **'गणपाठ'** कहते हैं। गणपाठ बहुसंख्यक शब्दों को व्याकरण के संक्षिप्त नियमों के अन्तर्गत लाकर परिचय कराने का रोचक एवं मौलक ढंग है । गणपाठ के लघु और वृद्ध–दो पाठ

मिलते हैं । ये दोनों पाठ पाणिनीय प्रोक्त हैं । गण पाठ के गणों को दो भागों में विभक्त किया गया है—एक वे गण जिनमें शब्द नियमित हैं, उतने शब्दों से ही उस गण का कार्य होगा । जैसे—सर्वादिगण। दूसरे वे गण जिनमें शब्दों की संख्या नियमित नहीं । इस प्रकार के गण आकृतिगण कहलाते हैं ।

(iv) **उणादिपाठ**—पाणिनि ने कृदन्त सूत्रों के मध्य **'उणदयो बहुलम्'** पढ़ा है । **'उणादयो बहुलम्'** के अनेक बार अष्टाध्यायी में पठित होने के कारण यह कहा जा सकता है कि पाणिनि को उणादि कोश का पूर्णरूपेण ज्ञान था । इस समय उपलब्ध उणादि कोशों में **'पञ्चपादी'** और **'दशपादी'** उणादि सूत्र प्राचीन है । सिद्धान्तकौमुदी के रचयिता भट्टोजिदीक्षित ने पञ्चपादी उणादि सूत्रों को अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है । प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता विट्ठल ने अपने व्याख्या में दशपादी उणादि सूत्रों की व्याख्या की है । उणादि सूत्रों पर टिप्पणी करते हुए पतञ्जलि ने उणादि सूत्रों के महत्त्व पर जोर दिया है । उणादि सूत्रों के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'अर्थ की खोज में व्याकरण के सामान्य नियमों को असमर्थ पाकर ही प्रकृति मात्र की कल्पना के लिए **'उणादि'** की आरम्भिक रचना की गई ।'

(v) **लिङ्गानुशासन**—'लिङ्गानुशासन'-पाणिनिकृत आज भी उपलब्ध है । इस सम्बन्ध में डा० कीथ के इस मत से युधिष्ठिर मीमांसक असहमत हैं कि यह लिङ्गानुशासन पाणिनि की अपेक्षा बहुत आधुनिक प्रतीत होता है । कात्यायन और पतञ्जलि पाणिनि के लिङ्गानुशासन से परिचित थे—ऐसा युधिष्ठिर मीमांसक का कथन है । पाणिनि का वर्तमान में उपलब्ध लिङ्गानुशासन मात्र सूची ग्रन्थ का काम करता है । यह व्याकरण रचना का एक अभिन्न अङ्ग है । मीमांसक के मतानुसार व्याडि ने भी एक लिङ्गानुशासन लिखा था । परन्तु इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। सत्यकाम वर्मा के अनुसार व्याडि ने अलग से कोई लिङ्गानुशसन नहीं लिखा । संग्रह के अन्तर्गत लिङ्ग सम्बन्धी विचार व्यक्त किए थे । हो सकता है कि आचार्य व्याडि ने पृथक् से कोई **'लिङ्गानुशासन'** रचा हो ।

इन पाँच ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ भी सुरक्षित रूप में या उल्लिखित रूप से उपलब्ध होते हैं–

पाणिनीय शिक्षा तथा जाम्बवती विजय आदि । इसमें से प्रधान ग्रन्थ **'पाणिनीय शिक्षा'** है ।

कातन्त्र सम्प्रदाय
THE KĀTANTRA SCHOOL

परिचयः—प्रचार एवं प्राचीनता की दृष्टि से पाणिनि के बाद के सम्प्रदायों के कातन्त्र सम्प्रदाय शिरोमणि माना जाता है । प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों में कातन्त्र को कलाप, कलापक तथा कौमार नाम से भी जाना जाता है । इन नामों की अनेक आचार्यों ने अपनी-अपनी मति के अनुसार व्याख्या की है। हेमचन्द दुर्गसिंह आदि कई आचार्यों के अनुसार **'कातन्त्र'** का अर्थ **'लघुतन्त्र'** अर्थात् संक्षिप्त तन्त्र है । इस आधार पर यह माना जाता है कि यह व्याकरण किसी प्राचीन बृहत्तन्त्र का संक्षिप्त रूप है । युधिष्ठिर मीमांसक के मतानुसार कातन्त्र **'काशकृत्स्न'** का संक्षेप है ।

कथासरित्सागर के चतुर्थ तरङ्ग में विद्यमान किंवदन्ती के अनुसार एक बार आन्ध्र नरेश सातवाहन रानियों के साथ जलक्रीड़ा करते समय किसी रानी के द्वारा **'मोदकं देहि राजन्'** कहने पर उसके आशय को, व्याकरण अनभिज्ञ होने के कारण, समझ नहीं सके और रानी को भूखी जानकर उसके लिए मोदक (लड्डू) लाने को कहा। रानी के द्वारा उपहास किये जाने पर जब उन्हें अपनी गलती का आभास हुआ तब उन्हें अपने अल्प व्याकरण ज्ञान पर ग्लानि हुई और उन्होंने शर्ववर्मा नामक विद्वानों को ऐसा व्याकरण लिखने को कहा जिससे अल्प समय में संस्कृत भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सके। वहीं उल्लेख मिलता है की शर्ववर्मा ने कठोर तपस्या से शिव को प्रसन्न किया, शिव ने कुमार (कार्त्तिकेय) को शर्ववर्मा की इच्छा पूर्ण करने को कहा तथा कार्त्तिकेय ने कलाप अर्थात् मयूर-पुच्छ पर व्याकरण के सूत्र लिखकर शर्ववर्मा को दिये, अतः इस व्याकरण का नाम, कौमार, कलाप तथा **'कलापक'** पड़ा । इस अनुश्रुति का संकेत वनमालि के **'कलाप व्याकरणोत्पत्ति प्रस्ताव'** तथा डा० वूलर के द्वारा सन् 1875 में प्राकिसत

एक रिपोर्ट में मिलता है ।

इस विवरण से यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि शर्ववर्मा कातन्त्र व्याकरण के मूल रचयिता नहीं है । संभवतः उन्होंने उसके पूर्वप्रचलित रूप का संक्षेप और पुनरुद्धार किया प्रतीत होता है । तिब्बती इतिहास के लेखक तारानाथ के अनुसार कातन्त्र व्याकरण पाणिनि से पूर्ववर्त्ती ऐन्द्र सम्प्रदाय से सम्बद्ध है । बर्नेल के मतानुसार तमिल के प्राचीनतम व्याकरणों में एक **'तोल्कप्पियम्'** जो ऐन्द्र सम्प्रदाय का माना जाता है, कातन्त्र के साथ घनिष्ठ सम्बबन्ध रखता है ।

बल्वेल्कर की मान्यता है कि कातन्त्र व्याकरण की रचना का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं था । उसका उद्देश्य लोकरुचि के अनुसार व्याकरण निमाण की आवश्यकता पूर्ति करने का प्रयास था । बेबर ने अपनी History of Indian Literature में लिखा है कि यह व्याकरण उन लोगों के लिए रचा गया है, जो प्राकृत के माध्यम से संस्कृत सीखना चाहते थे। उनके अनुसार कच्चायन का पालि व्याकरण भी कातन्त्र के आधार पर ही रचा गया था। युधिष्ठिर मीमांसक के मतानुसार कातन्त्र की रचना कुमारों अर्थात् बालकों को संस्कृत का ज्ञान प्रदान करने के उद्देश्य से हुई थी, इसीलिए उसका नाम कौमार व्याकरण भी है ।

इस व्याकरण का विशेष लाभ संस्कृत को प्रारम्भ से सीखने वालों को होता है । इसका प्रमाण व्याख्यानप्रक्रिया नामक पुस्तक में मिलता है जिसमें इस व्याकरण का उद्देश्य बताया गया है–

> **''छान्दसः स्वल्पमतयः शास्त्रान्तररताश्च ये।**
> **ईश्वरा व्याधिनिरतास्तथालस्ययुताश्च ये।**
> **वणिक्सत्यादिसंवक्ता लोकयात्रादिषु स्थिताः।**
> **तेषां क्षिप्रं प्रबोधार्थम्।**

समय– वेल्वेल्कर तथा कुछ अन्य विद्वान् इस व्याकरण का निर्माण काल ईसा की प्रथम शताब्दी मानते हैं । युधिष्ठिर मीमांसक 2000 विक्रम पूर्व के आस पास मानते हैं । उनके विचारानुसार इसका संक्षिप्त संस्करण विक्रम से 400, 500 वर्ष पहले तैयार हो चुका था । 7वीं, 8वीं, शताब्दी के आस पास इसका प्रचार सारे काश्मीर में तथा 15वीं शती तक बंगाल में हो गया

था। कीथ ने संस्कृत साहित्य के इतिहास में लिखा है कि कातन्त्र के कुछ भाग मध्य एशिया की खुदाई से प्राप्त हुए थे जो संभवत: बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा वहाँ पहुँचाये गये थे। इससे स्पष्ट होता है कि कातन्त्र अपनी सरलता के कारण इतना लोकप्रिय हुआ कि उसका प्रचार भारत से बाहर के स्थानों में भी हुआ।

कातन्त्र की प्रमुख विशेषतायें

Nature of Kātantra's School

कातन्त्र सूत्रपाठ चार भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. **सन्धि प्रकरण**—संज्ञापाद, स्वरसन्धिपाद, स्वरसंधिनिषेध पाद, व्यञ्जन संधि पाद, विसर्ग संधि पाद, और निपात पाद।
2. **नाम प्रकरण**—स्वरान्तपाद, व्यञ्जनान्त पाद, सखि पाद, युष्मत्पाद, कारक पाद, समास पाद, तद्धितपाद, और स्त्रीप्रत्ययपाद।
3. **आख्यात प्रकरण**—परस्मैपाद, प्रत्ययपाद द्विर्वचनपाद, सम्प्रसारण पाद, गुणपाद, अनुषङ्गपाद, इडागम पाद, और धुट्पाद।
4. **कृत् प्रकरण**—सिद्धि पाद, धातुपाद, कर्मणि पाद कवसुन् पाद, उणादि पाद, और धातु सम्बन्ध पाद।

कथासरित्सागर तथा कातन्त्र वृत्ति टीका के अनुसार कातन्त्र के आख्यातान्त भाग के कर्त्ता शर्ववर्मा थे मुस्लिम यात्री अल्वेरूनी के अनुसार भी शर्ववर्मा कान्तत्रकार थे। किन्तु पं० गुरुपद हाल्दार के मतानुसार शर्ववर्मा कातन्त्र के रचयिता नहीं, वृत्तिकार थे। इसी प्रकार युधिष्ठिर मीमांसक भी शर्ववर्मा को कातन्त्र का संस्कर्त्ता या संक्षेप कर्त्ता मानते हैं।

कातन्त्र के वृत्तिकार दुर्गसिंह ने कातन्त्र के कृत् प्रकरण का रचयिता कात्यायन को, पदप्रकरण संगति के लेखन योगराज ने शाकटायन को तथा दुर्गसिंह वृत्ति के व्याख्याता रघुनन्दन शिरोमणि ने वररुचि को माना है। वररुचि कात्यायन का ही मूल नाम माना जाता है। इसलिए कात्यायन को ही कृत् प्रकरण का लेखन माना जाता है।

कात्यायन के द्वारा कृदन्त भाग की रचना किए जाने पर भी कातन्त्र व्याकरण में अनेक न्यूनताएँ रह गई थी। उन्हें दूर करने के लिए श्रीपतिदत्त ने कातन्त्र परिशिष्ट की रचना की। फिर, विजयानन्द ने 'कातन्त्रोत्तर'

नामक ग्रन्थ लिखा । उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि कातन्त्र अष्टाध्यायी आदि की तरह किसी एक ही लेखक की लेखनी की देन नहीं है अपितु अनेक विद्वानों के द्वारा समय-समय पर उसको संशोधित एवं परिवर्धित किया जाता रहा है ।

इस व्याकरण में वर्ण क्रम को प्रस्तुत करने में प्रातिशाख्य परम्परा को अपनाया गया है । पाणिनि प्रोक्त प्रत्याहारों को इसमें नहीं अपनाया गया है । इसकी अधिकांश संज्ञाऐं पाणिनि से भिन्न हैं, केवल कुछ संज्ञाऐं ही पाणिनि से ली गई हैं जैसे **सर्वनामस्थान** के स्थान पर धुट् और धि के स्थान पर अग्नि को अपनाया गया है जबकि नदी के लिए नदी को ही अपनाया गया है । इसका विषय विभाजन इतने सरल तरीके से हुआ है कि बहुधा पाणिनि परम्परा के प्रक्रिया ग्रन्थ इसके सामने हेय प्रतीत होते हैं । उनमें पाणिनीय क्रम बार-बार टूटता दृष्टिगोचर होता है परन्तु यहां सूत्रकार उसी क्रम से बढ़ता दिखाई देता है । विषय की व्यापकता के अनुसार ही पादों की दीर्घता और लघुता तथा संख्या निश्चित की गई है । सभी विषयों को एक ही पाद में भरने का यत्न नहीं किया गया है। कारक प्रकरण का प्रारम्भ पाणिनि की तरह ही अपादान की परिभाषा से किया है। उसके बाद सम्प्रदान अधिकरण, कर्म कर्त्ता और हेतु के क्रम से आगे बढ़े हैं । इसके कारक प्रकरण में पाणिनि के 31 सूत्रों को 9 सूत्रों में ही संक्षिप्त कर दिया गया है । तद्धित पाद को 147 सूत्रों में ही निबद्ध किया है । संक्षेप का अनुसरण करते हुये पाणिनि के 4000 सूत्रों का संक्षेप 1400 सूत्रों में ही कर दिया गया है ।

वृत्तिकार–कातन्त्र की सबसे प्राचीन उपलब्ध वृत्ति दुर्गसिंह की मानी जाती है । दुर्गसिंह ने कातन्त्र वृत्ति की एक टीका भी लिखी थी । इस वृत्ति की अन्य टीकायें उग्रभूति लिखित **'शिष्यहितन्यास,'** त्रिलोचन दास लिखित **'कातन्त्रवृत्ति पञ्जिका'** तथा वर्धमान रचित **'कातन्त्र विस्तर'** विशेष प्रसिद्ध हैं ।

दुर्गसिंह के अतिरिक्त कातन्त्र के अन्य वृत्तिकारों के उमापति, जिनप्रभसूरि जगद्धर के नाम उल्लेखनीय हैं । सम्प्रति कश्मीर में प्रचलित अधिकांश व्याकरण का तन्त्र के ही आधार पर रचे गये माने जाते हैं ।

प्रचार–इस व्याकरण का प्रचार अब बंगाल में ही है। पहले इसका प्रचार न केवल भारत वर्ष में, अपितु विदेशों में भी था। मारवाड़ की पाठशालाओं में अब भी जो **'सीधी-पाटी'** पढ़ाई जाती है वह कातन्त्र के प्रारम्भिक भाग का ही विकृत रूप है। शूद्रक रचित **पद्मप्राभृतकभाण** से भी पता चलता है कि उसके समय में कातन्त्रानुयायियों की पाणिनि अनुयायियों से बड़ी भारी स्पर्धा थी।

चान्द्र व्याकरण
THE CHĀNDRA SCHOOL

परिचय–एक बौद्ध विद्वान् चन्द्रगोमिन् ने 500 ई० के लगभग चान्द्र व्याकरण लिखकर इस सम्प्रदाय की स्थापना की । इस व्याकरण का उल्लेख सर्वप्रथम भर्तृहरि की वाक्यपदीयम् के द्वितीय काण्ड के अन्त में मिलता है । तथा अन्तिम मेघदूत (श्लोक 25) पर मल्लिनाथ की व्याख्या में मिलता है जहाँ उन्होंने इस व्याकरण के सूत्र को उद्धृत किया है–चान्द्र व्याकरण में विश्राम शब्द पाया जाता है जबकि पाणिनीय व्याकरण में विश्रम शब्द पाया जाता है । चान्द्रव्याकरण 6.1.42 सूत्र के अनुसार **'विश्राम'** रूप ही होना चाहिए जबकि शाकटायन और हेमचन्द्र ने दोनों ही रूपों को ठीक माना है। चान्द्र व्याकरण की पूर्णता का आभास हमें नेपाली भाषा में मिलता है जिसका समय 1356 ई० A.D. है और इसका सम्पादन महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने किया है। इससे पूर्व चान्द्र व्याकरण के बारे में कोई विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं मिलता । Dr.Bruno Libich के प्रयत्नों से फलस्वरूप चान्द्र व्याकरण का तिबब्त की भाषा में अनुवाद मिलता है । इस विद्वान् ने सन् 1902 में चान्द्र व्याकरण को प्रकाशित किया ।

चान्द्राचार्य के वंश के विषय में कोई विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है । चान्द्र व्याकरण के आरम्भ में जो एक श्लोक मिलता है उससे प्रतीत होता है कि चन्द्रगोमी बौद्ध मत के आस्था रखते थे ।

सिद्धं प्रणम्य सर्वज्ञं सर्वीयं जगतो गुरुम्।

कल्हण के लेख से पता चलता है कि कश्मीर के महाराजा अभिमन्यु की आज्ञा से चन्द्राचार्य ने कश्मीर में महाभाष्य का प्रचार एवं प्रसार किया था। परन्तु यह पता नहीं चलता कि वे किस प्रान्त के निवासी थे । केवल

उनके उणादि सूत्रों के अध्याय में यह प्रतीत होता है कि वे अङ्ग प्रान्त के निवासी थे ।

इस सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषतायें

चन्द्रगोमिन् ने अपने व्याकरण की रचना कात्यायन, पतञ्जलि एवं पाणिनीय व्याकरण में सुधार के लिये की थी । इस तीनों व्याकरणों का कार्य अत्यन्त विस्तृत था । उसको संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने के लिए चन्द्रगोमी ने व्याकरण की रचना की । जैसा कि चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण की विशेषता बताते हुए लिखा है–**लघु विस्पष्टं सम्पूर्णम् उच्यते शब्दलक्षणम्** अर्थात् चान्द्र व्याकरण लघु, स्पष्ट और सम्पूर्ण है । चन्द्रगोमी ने पाणिनीय व्याकरण के स्वर एवं वैदिक प्रकरण को अपने व्याकरण में नहीं रखा । केवल कुछ वैदिक धातुओं को अपने व्याकरण में ग्रहण किया है । लघुता तो उसकी इसी से स्पष्ट है कि जहाँ पाणिनीय व्याकरण में 4000 सूत्र हैं वहाँ चान्द्र व्याकरण में 3100 सूत्र हैं । पाणिनि जहाँ **वा, विभाषा, अन्यतरस्याम्** का प्रयोग विकल्प की स्थिति बताने के लिए करता है वहाँ चन्द्राचार्य केवल **वा** का ही प्रयोग करता है । **लुक्, श्लु, लुप्, लोप** आदि का अन्तर कम हो जाने से भी विद्यार्थियों को सरलता एवं स्पष्टता का आभास होता है । संज्ञाओं की कमी भी सरलता ही प्रदान करती है क्योंकि चन्द्रगोमी के व्याकरण की विशेषता चान्द्रवृत्ति और लिङ्गानुशासन में **'चन्द्रोपमसंज्ञकं व्याकरणम्'** बताई गई है । इसीलिये इसको असंज्ञक व्याकरण भी कहा जाता है । इस व्याकरण की सम्पूर्णता का दावा तो इसी से सिद्ध किया जा सकता है कि चन्द्राचार्य ने अपने संशोधनों के साथ **चान्द्रशिक्षा, गणपाठ, उणादिसूत्र** और **लिंगानुशासन** को भी प्रस्तुत किया है । चान्द्र व्याकरण के प्रथम अध्याय में किसी या धातु प्रक्रिया का सन्निवेश है । द्वितीय और तृतीय अध्याय में **नाम** का वर्णन है। तृतीय अध्याय के अन्त तक सारी प्रक्रिया तद्धिताश्रित है। इसमें 6 अध्याय और प्रत्येक अध्याय में चार चार पाद हैं ।

ये सब विशेषताऐं होते हुए भी चन्द्रगोमी का अपना वास्तविक योगदान केवल 35 सूत्रों का ही है । इन सूत्रों को काशिकाकार ने अपनी काशिका वृत्ति में उद्घृत किया है । इन सूत्रों को लक्ष्य बनाकर ही कैयट ने कहा है **अपाणिनीयः सूत्रेषु पाठः** । चान्द्र व्याकरण का मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण

व्याकरण वस्तु को इकट्ठा करना एवं ध्वन्यात्मक तथा व्याकरणिक सिद्धान्तों का पुनः स्थापन करना था । इस व्याकरण का उपजीव्य महाभाष्य है ।

इस व्याकरण में प्रत्याहार सूत्रों की संख्या 13 है जबकि पाणिनीय व्याकरण में 14 है । पाणिनि के दो प्रत्याहारसूत्रों **'हयवरट्'** और **'लण्'** को मिलाकर चन्द्रगोमी ने एक प्रत्याहार सूत्र 'हयवरलण्' बना दिया । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह पूर्ण रूप से पाणिनि का ऋणी है ।

चान्द्र व्याकरण के सहायक ग्रन्थ–चन्द्रगोमी ने धातुपाठ और उणादि पाठ की भी रचना की है । उणादि पाठ तीन भागों में विभक्त है धातुपाठ 10 भागों में विभक्त है। Dr. Liebich ने इन सूत्रों का प्रकाशन किया है । लिङ्गानुशासन, गणपाठ, उपसर्गवृत्ति एवं गणसूत्रों का निर्माण भी चन्द्र गोमी ने किया है । तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग भी किया है । धातुपाठ की चर्चा क्षीरस्वामी ने की है तथा इसका कुछ उल्लेख का तन्त्र पद्धति में भी मिलता है । गणपाठ अभी प्रकाशित नहीं हुआ । परन्तु सूत्र वृत्ति में इसका उल्लेख होने से इसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता । उपसर्गवृत्ति तिब्बती भाषा में मिलती है । इसमें 20 उपसर्गों का वर्णन है । चन्द्रगोमी के वर्णसूत्र पाणिनीय शिक्षा के मुकाबले में बहुत छोटे हैं। 40 सूत्रों में स्थान, प्रयत्न और वर्ण का भी वर्णन मिलता है । परिभाषाओं का इसमें कोई वर्णन नहीं है । व्याकरण के अतिरिक्त इनकी कुछ धार्मिक कविताएं शेष लेखादि तथा नाटक 'लोकानन्द' आदि भी मिलते हैं ।

चान्द्र व्याकरण का इतिहास–चान्द्र व्याकरण की पूर्ण हस्तलेख प्रति नेपाल महाराजा की लाईब्रेरी में सुरक्षित है । इसमें कोई संदेह नहीं कि चान्द्र व्याकरण पर बौद्धकाल में अनेक टीकाएं लिखी गई जो अत्यन्त प्रसिद्ध रही होंगी । इन टीकाओं का पठन-पाठन तिब्बत में होता है । इस व्याकरण का प्रचार वहाँ 1000 A.D. पूर्व हुआ । चान्द्र व्याकरण परम्परा के एक वैयाकरण स्थिरमति ने चान्द्र व्याकरण का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया है । लङ्का में भी इस व्याकराण का पर्याप्त प्रचार रहा है, क्योंकि वह भी बौद्धिक क्षेत्र था । चन्द्रगोमी के 15 और कार्य उपलब्ध हैं जो कि तिब्बती भाषा में हैं तथा वे सभी नेपाल से प्राप्त हुए हैं । भारतवर्ष में इसका प्रचार बिल्कुल नहीं हो सका क्योंकि यह व्याकरण वास्तविकता की भित्ति पर आधारित नहीं था तथा धर्मनिरपेक्ष नहीं था अपितु बौद्ध व्याकरण था । यह

पाणिनीय व्याकरण से समानता रखता है तथा उसी का लघु रूप माना जा सकता है ।

1200 A.D. में बौद्ध विद्वान् काश्यप ने इस व्याकरण पर '**बालवबोध**' नामक टीका लिखी, जिसकी तुलना वरदराज की '**लघुसिद्धान्तकौमुदी**' से की जा सकती है । इस व्याकरण के अन्य कार्य कालक्रमानुरोध से उसी प्रकार समाप्त हो गये जैसे अष्टाध्यायी के आगमन से अन्य व्याकरण लुप्त हो गये ।

जैनेन्द्र सम्प्रदाय
THE JAINENDRA SCHOOL

परिचय–जैनों में प्रचलित जनश्रुति के अनुसार अन्तिम तीर्थङ्कार महावीर ने 8 वर्ष की आयु में ही इन्द्र के द्वारा पूछे गए कुछ प्रश्नों का उत्तर व्याकरणिक भाषा में दिया था। इसलिए यह व्याकरण इन्द्र और जैनेन्द्र दोनों नामों से जाना जाता है। इस किंवदन्ती का ज्ञान हमें कल्पसूत्र की समयसुन्दर द्वारा विहित टीका और लक्ष्मीवल्लभ की उपदेशमालाकर्णिका से होता है। इन तथ्यों के आधार पर डा० कीलहोर्न ने भी महावीर को ही जैनेन्द्र व्याकरण का रचयिता स्वीकार किया है। परन्तु युधिष्ठिर मीमांसक, डा० काशीनाथ बापूजी पाठक, बेल्वल्कर आदि कुछ विद्वान् धनञ्जयकोष, जैन हरिवंश, मुग्धबोध, नन्दिसंघ पट्टावलि आदि ग्रन्थों के आधार पर जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता पूज्यपाद अपर नाम आचार्य देवनन्दी को स्वीकार करते हैं। तथा उनका नाम जिनेन्द्र भी है। अधिकांश विद्वान् तो यही स्वीकार करते हैं कि जैनेन्द्र व्याकरण के लेखक देवनन्दी ही थे, परन्तु सम्भव है कि इस व्याकरण से पहले भी कोई व्याकरण प्रचलित रहा हो, जो महावीर रचित हो। हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश में और हरिभद्र ने आवश्यकीय सूत्रवृत्ति में इन्द्र के लिए प्रोक्त व्याकरण को ही 'ऐन्द्र' व्याकरण के रूप में स्वीकार किया है। इस व्याकरण के प्रवक्ता देवनन्दी ने श्रीदत्त, यशोभद्र, भूतवलि, प्रभाचन्द्र सिद्धसेन और समन्तभद्र के मतों का उल्लेख सूत्रों द्वारा किया है। पाल्यकीर्ति ने दो और इन्द्र सिद्धनन्दी एवं आर्यवज्र का उल्लेख किया है जो सम्भव है वैयाकरण हों। इससे यही स्पष्ट होता है कि जैनेन्द्र व्याकरण से भी पूर्ण कोई व्याकरण सम्प्रदाय प्रचलित था जिसके प्रवक्ता शायद महावीर रहे हों, किन्तु बिना दृढ़ प्रमाणों से स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

समय–डा० काशीनाथ बापू जी पाठक और बेल्वल्कर देवनन्दी का काल छठी शताब्दी ईस्वी के आरम्भ में 525 ई० के आसपास मानते हैं। अभयङ्कर और युधिष्ठिर मीमांसक 470 ई० के आसपास मानते हैं। यह भी माना जाता है कि महाराज दुर्विनीत देवनन्दी के शिष्य थे, उनका समय भी यही था। इस आधार पर इनका समय पांचवीं शती का मध्योत्तर मानना उचित होगा।

इस सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषताएँ

जैनेन्द्र व्याकरण मुख्य रूप से पाणिनीय व्याकरण पर निर्भर करता है ओर यत्र तत्र उसमें चान्द्र व्याकरण से भी सहायता ली गई है। वर्तमान में इस व्याकरण के औदीच्य और दक्षिणात्य दो संस्करण मिलते हैं। पहले में सूत्र संख्या 3000 है और दूसरे भाग में इससे 700 सूत्र अधिक हैं। दूसरे का उल्लेख सोमदेव ने अपनी टीका में किया है। अनेक विद्वानों के अनुसार औदीच्य संस्करण ही प्रामाणिक माना जाता है। इस व्याकरण के दोनों संस्करणों की टीकाओं में **'देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्'** उदाहरण मिलता है। इससे पता चलता है कि इस व्याकरण में **एकशेष** प्रकरण का समावेश नहीं किया गया है। इस व्याकरण में संज्ञाओं को अल्पाक्षर में रखा गया है। इसमें संक्षेप की परम्परा को भी अपनाया गया है। संक्षेप तो इसी से स्पष्ट होता है कि पाणिनि के चार अध्यायों की विषयवस्तु इसके तीन अध्यायों में ही निबद्ध है। वैदिक और स्वर प्रक्रिया का इसमें समावेश नहीं किया गया है। यह संक्षेप यहाँ तक हुआ है कि इसमें केवल पाँच अध्याय ही रह गए है। पाणिनीय प्रत्याहारों को ज्यों का त्यों अपनाया गया है। केवल पारिभाषित शब्दावलि में थोड़ा-बहुत परिवर्तन किया है यथा–**विभाषा एवं अन्तरस्याम्** के लिए **वा** तथा **मनुष्य** के लिए **नृ** का प्रयोग इत्यादि। अतः स्पष्ट है कि यह पाणिनि का ऋणी है केवल कुछ परिवर्तन करके ही सूत्रों को अपना लिया गया है यथा–

'अतो भिस् ऐस्' पाणिनीय सूत्र के स्थान पर **'भिसोऽत् ऐस्'** सूत्र का निर्माण किया है। इसके अतिरिक्त पारिभाषित शब्दावलि में कुछ परिवर्तन किया गया है जैसे पाणिनीय प्रत्यय के लिए इस व्याकरण में त्य, **कर्मधारय** के लिए **च परस्मैपद** के लिए **म आर्धधातुक** के लिए अग का प्रयोग इत्यादि इत्यादि।

जैनेन्द्र व्याकरण का प्रचार दसवीं, ग्यारहवीं शताब्दी तक विशेष रहा। तेहरवीं शताब्दी के बाद उसका प्रचार शिथिल पड़ गया। इस समय केवल दक्षिण भारत के दिगम्बर जैनों के बीच इसका यत्र तत्र प्रचार है।

इस व्याकरण पर आचार्य देवनन्दी ने एक **'न्यास'** लिखा, अभयनन्दी ने महावृत्ति लिखी। गुणनन्दी ने **'शब्दार्णव'** नामक एक ग्रन्थ इस व्याकरण पर लिखा। इनके अतिरिक्त प्रभास-चन्द्राचार्य और महाचन्द्र ने वृत्तियाँ अथवा टीकायें लिखीं। आचार्य श्रुतकीर्ति और वंशीधर ने इस व्याकरण के **'प्रक्रिया'** ग्रन्थ लिखे। सोमदेव सूरि ने **'शब्दार्णवचन्द्रिका'** नाम्नी अल्पाक्षरवृत्ति लिखी।

शाकटायन सम्प्रदाय
THE ŚĀKATĀYAYNA SCHOOL

परिचय एवं काल–शाकटायन व्याकरण जैन सम्प्रदाय से सम्बन्ध रहता है । अपनी रचना के दो शताब्दी बाद यह जैनेन्द्र व्याकरण से अलग हो गया । श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय से सम्बद्ध इस व्याकरण का नाम **शाकटायन शब्दानुशासन** है । गणरत्न महोदधि तथा माधवीय धातुवृत्ति में इस व्याकरण के अनेक निर्देश मिलते हैं । एक समय ऐसा था जब इस व्याकरण को अधिक संख्या में मनुष्य पढ़ा करते थे। इसके अतिरिक्त भी यह अधिक प्रसिद्ध नहीं हो सका, क्योंकि यह वास्तविकता की भित्ति पर आधारित नहीं था ।

इस व्याकरण के रचयिता आचार्य शाकटायन माने जाते हैं । संस्कृत व्याकरण के इतिहास में शाकटायन नाम के दो आचार्य हुए है । उनमें से एक पाणिनि से पूर्ववर्ती है तथा दूसरे परवर्ती हैं । आज जो **'शाकटायन व्याकरण'** के नाम से मुद्रित ग्रन्थ मिलता है, वह उस शाकटायन व्याकरण से सर्वथा भिन्न है जिसे ऋक्-प्रातिशाख्य और यास्क से भी पूर्ववर्त्ती लोकिक वैयाकरण शाकटान मुनि ने लिखा था। इस व्याकरण का लेखक **'महाश्रमण संघाधिपति'** था जिसका उल्लेख बोपदेव की कामधेनु और हेमचन्द्र आदि के लेखकों के द्वारा मिलता है । डा० कीलहोर्न ने तो एकबार यह विचार प्रकट किया था कि इस शाकटायन का कोई इतिहासिक अस्तित्व नहीं है अपितु किसी आधुनिक जैन लेखक ने व्याकरण लिखकर उसे प्राचीन शाकटायन मुनि के नाम से प्रसिद्ध कर दिया। डा० बेल्वल्कर के अनुसार आचार्य पाल्यकीर्त्ति शाकटायन दिगम्बर सम्प्रदाय के थे परन्तु मीमांसक उन्हें दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रवक्ता न मानकर यापनीय सम्प्रदाय का आचार्य मानते हैं ।

प्रो० पाठक ने अपने Paper 'Indian antiquary" (Oct. 1914) में न केवल इस शाकटायन का ऐतिहासिक अस्तित्व स्वीकार किया है अपितु इसके समय का भी ठीक-ठीक उल्लेख किया है। शाकटायन जिसने शब्दानुशासन लिखा उसने अमोधावृत्ति भी लिखी जो कि अमोधवर्ष के समय में लिखी गई, जिसका निश्चित समय 817877 A.D. माना जाता है। इसी आधार पर शाकटायन का समय भी उसी के आस-पास मानना चाहिए।

शाकटायन व्याकरण की विशेषताएँ

शाकटायन ने प्राचीन वैयाकरणों पाणिनि, पतञ्जलि, कात्यायन, चन्द्रगोभी आदि के व्याकरणों को आधार बनाने के साथ-साथ जैनेन्द्र व्याकरण को भी आधार बनया है। इसके अधिकतर सूत्र पाणिनि से मिलते हैं। जहाँ वे उससे भिन्न हैं, वहाँ विषयवस्तु को संक्षिप्त और कम शब्दों में कहा गया है जो कि पाणिनि पहले ही कह चुके हैं। इस व्याकरण में चार-चार पादों के चार अध्याय हैं। इसमें कुल मिलाकर 3200 सूत्र हैं। विषयों का विवेचन कौमुदी के समान है। इसमें केवल तेरह (13) प्रत्याहार सूत्र हैं। स्वरों मे लृ का अभाव है। वैदिक व्याकरण का वर्णन नहीं किया गया है। इसकी शैली कौमुदी की अपेक्षा सरल है। इसमें अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों को तद्वत् ग्रहण कर लिया है, किन्तु कहीं-कहीं पर उनको संक्षिप्त करने का प्रयास दिखाई देता है। कहीं कहीं शब्दों में कछ विभिन्नता मिलती है पर भाव में कोई अन्तर नहीं मिलता। जैसे–'**आदिरन्त्येन सहेता**' के स्थान पर '**सात्मेतेत्**' मिलता है। नया विषय शाकटायन ने, चन्द्रगोमिन् से बिना किसी विभिन्नता को मानते हुए, लिया है–''जैसे '**परिमुखं च**' पाणिनीय सूत्र है, चान्द्र व्याकरण में इसके स्थान पर '**परेर्मुखपाश्र्वात्**' मिलता है। शाकटायन ने यह सूत्र ऐसे ही अपने व्याकरण में ग्रहण किया है। जहाँ शाकटायन ने सुधार करने की कोशिश की है वहाँ पर पहले से ही जैनेन्द्र सुधार कर चुके हैं जैसे–पाणिनि के '**सख्युर्यः**' सूत्र में चन्द्रगोमिन् ने सुधार कर '**सखिदूतवणिग्भ्यो यः**' सूत्र लिखा है। शाकटायन ने इसे '**सखिवणिकद्‌दूताद्यः**' में परिवर्तित किया है। पारिभाषिक शब्द मुख्यतः पाणिनि के ही है परन्तु जहां चान्द्र व्याकरण के शब्द सरल एवं स्पष्ट दिखाई दिए वहाँ शाकटायन ने उन्हीं को ग्रहण किया है। इस व्याकरण में सबसे अधिक सूत्र जैनेन्द्र के हैं। ऐसी

मौलिक कोई भी वस्तु नहीं है जिसका श्रेय शाकटायन को दिया जा सके। पुनरपि इसमें अनेक विशेषताएँ ऐसी हैं जिनके आधार पर यह किसी समय अत्यन्त प्रसिद्ध रहा था। इसके टीकाकार यक्षवर्मा का कथन है कि "शाकटायन व्याकरण में इष्टियाँ पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है, सूत्रों से पृथक् वक्तव्य कुछ नहीं है, उपसंख्यानों की भी आवश्यकता नहीं है। इन्द्र, (जितेन्द्र) चान्द्र आदि ने जो शब्द लक्षण कहा है वह सब इसमें हैं। जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है। गणपाठ, धातुपाठ लिङ्गानुशासन और उणादि इन चारों के अतिरिक्त समस्त व्याकरण कार्य वृत्ति के अन्तर्गत है।"

समय के प्रवाह में शाकटायन का शब्दानुशासन हेमचन्द्र के शब्दानुशासन के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उभर कर आया। इसकी वृत्ति, टीका एवं प्रक्रिया ग्रन्थों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी समय शाकटायन सम्प्रदाय पर्याप्त लोकप्रिय रहा होगा, किन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण की रचना के बाद उसकी लोकप्रियता समाप्त हो गई।

शाकटायन ने स्वयं अपने व्याकरण पर एक विस्तृत वृत्ति लिखी जिसका नाम अमोघावृत्ति है। इस वृत्ति पर आचार्य प्रभाचन्द्र लिखित 'न्यास' नाम्नी टीका उल्लखनीय है। इसके दूसरे वृत्तिकार यक्षवर्मा हैं, जिन्होंने अमोघा, वृत्ति को संक्षिप्तता प्रदान करके उस पन **'चिन्तामणि'** नाम की लघुवृत्ति लिखी तथा जिस पर अजितसेन ने **'मणिप्रकाशिका'** नाम की टीका लिखी।

इन टीकाओं के अतिरिक्त इस व्याकरण पर दो या तीन प्रक्रियायें लिखी गई जिनमें अभयचन्द्राचार्य की **'प्रक्रिया संग्रह'** अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसकी दूसरी छोटी सी प्रक्रिया दयालपाल की **'रूपसिद्धि'** नाम से मिलती है।

शाकटायन के शब्दानुशासन के अतिरिक्त अन्य सहायक ग्रन्थ धातुपाठ, उणादि सूत्र, गणपाठ, लिङ्गानुशासन, परिभाषापाठ हैं। **'चिन्तामणि'** के रचयिता यक्षवर्मा ने इसकी **'सम्पूर्ण'** व्याकरण कहा है। पाणिनीय व्याकरण के अनुकरण पर ही यह व्याकरण भी **'पञ्चाङ्ग लक्षण'** युक्त है। शाकटायन के व्याकरण का प्रभाव परवर्ती काल में भी पड़ा। केवल सूत्रों के ही अनुकरण की दृष्टि से भी इसका अधिकतम अनुकरण हेमचन्द्र ने अपने **सिद्धहेमशब्दानुशासन** में किया है।

हेम सम्प्रदाय
THE HEMACANDRA SCHOOL

परिचय एवं काल–हेम सम्प्रदाय का प्रमुख व्याकरण **'सिद्धहेम-चन्द्राभिध स्वोपज्ञ शब्दानुशासन'** है जिसका प्रसिद्ध नाम **'सिद्धहेम-शब्दानुशासन'** है । प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र ने इस व्याकरण की रचना की । इस आचार्य को जैन परम्परा में धर्म दर्शन आदि अनेक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक रचनाएँ लिखने के कारण **'कलिकालसर्वज्ञ'** की उपाधि से विभूषित किया जाता है । पाणिनि के उत्तर कालीन व्याकरणों में इनके व्याकरण का स्थान सर्वोपरि है । जैन सम्प्रदाय और विद्वत् समाज में इस व्याकरण की अत्यधिक महत्ता स्वीकार की जाती है ।

हेमचन्द्र का जन्म धुन्धुक नामक ग्राम में संवत् 1145 की कार्तिक पूर्णिमा को एक मोढ़वंशीय वैश्य परिवार में हुआ था । इनके पिता का नाम **'चाचिग,'** माता का नाम पाहिनी, और गुरु का नाम देवचन्द्र अथवा चन्द्रदेव सूरि था । इनका गृहनाम **'चंगदेव'** था। गुरु प्रदत्त सोमदेव था, किन्तु सूरि पद की प्राप्ति के बाद वे हेमचन्द्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए । ये अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न थे । उनकी माता ने गुरु के अनुरोध पर हेमचन्द्र को केवल पाँच वर्ष की आयु में ही, उनको भेंट कर दिया था । अपने पाण्डित्य और प्रखर बुद्धि के कारण ये श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के सर्वप्रसिद्ध आचार्य हुए। गुजरात प्रदेश के महाराज सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल उनमें पर्याप्त श्रद्धा रखते थे । उन्हीं की सहायता और प्रेरणा को पाकर इन्होंने व्याकरण, छन्द, न्याय, काव्य, धर्म आदि अनेक विषयों पर कृतियां लिखी। 84 वर्ष की अवस्था में संवत् 1209 में उन्होंने पार्थिव शरीर को त्याग दिया ।

व्याकरण परिचय–इनकी सर्वप्रधान रचना **सिद्धहेमशब्दानुशासन'** ही है। कुछ विद्वानों ने इस अभिधान की व्याख्या इस प्रकार की है–

सिद्धराजेन कारितत्वात् सिद्धम्।
हेमचन्द्रेण कृतत्वात् हेमचन्द्रम्।।

यह व्याकरण संस्कृत, प्राकृत एवं अपभंश तीनों ही भाषायों का व्याकरण है । अष्टाध्यायी के अनुकरण पर इसका विभाजन आठ अध्यायों तथा प्रत्येक अध्याय का चार-चार पादों में है । पहले सात अध्यायों में संस्कृत भाषा का विवेचन है जिसमें 3566 सूत्र हैं । अष्टम अध्याय में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अपभ्रंश आदि का सन्निवेश है । अनेक प्रकार की प्राकृत भाषाओं का व्याकरण सबसे पहले हेमचन्द्र ने ही लिखा था । रचनाक्रम में कातन्त्र प्रक्रिया का अनुसरण किया गया है। **संज्ञा, स्वरसंधि, व्यञ्जन संधि, नाम, कारक, षत्व, णत्व, स्त्रीप्रत्यय, समास, आख्यात, कृदन्त** और **तद्धित** के क्रम को अपनाया गया है । यद्यपि हेमचन्द्र ने स्वतन्त्र रूप से प्राय: सभी पूर्ववर्ती व्याकरणों से सहायता ली, किन्तु उनका मुख्य आधार शाकटायन रचित शब्दानुशासन तथा उसकी अमोघावृत्ति ही रहे, क्योंकि अपने आश्रयदाता के लाभार्थ जिस नये व्याकरण का निर्माण किया, उसमें उनका प्रथम उद्देश्य पूर्वकालीन वैयाकरणों द्वारा कहीं गई सभी बातों को संक्षेप में प्रस्तुत करना था, तथा उनमें अतिरिक्त अन्यतत्सम्बन्धि बातों का सन्निवेश करना था। इस व्याकरण में **'प्रक्रिया'** ग्रन्थों जैसी अपूर्णता नहीं है । प्रत्येक सूत्र को उदाहरण प्रत्युदाहरण के द्वारा पूर्ण रूप से समझाया गया है । इसका महत्त्व यही है कि यह सतर्कता के साथ प्रक्रिया शैली पर रचित है ।

हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण पर **लघुवृत्ति, मध्यवृत्ति** और **बृहद्वृत्ति** की रचना की है । **लघुवृत्ति** में 6000, **मध्यवृत्ति** में 12000, तथा **बृहद्वृत्ति** में 18000 श्लोक है। इन्होंने 90000 (90 हजार) श्लोकों का **'बृहन्न्यास'** नामक एक और ग्रन्थ लिखा था जो आजकल अनुपलब्ध है । उन्होंने **धातुपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन, उणादिसूत्र** आदि का भी निर्माण किया था । इससे स्पष्ट है कि इन्होंने पंचाङ्ग व्याकरण की रचना की थी, परन्तु बेल्वल्कर के मतानुसार ये सब बृहद्वृत्ति के ही अंश है, जो आगे चलकर उससे पृथक् किए गए थे । युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार **'बृहन्न्यास'** (**शब्दमहाविन्यास**) के निर्माता भी हेमचन्द्र स्वयं थे, परन्तु बेल्वल्कर उसे किसी अज्ञात नाम विद्वान् की रचना मानते हैं ।

इस व्याकरण पर अनेक विद्वानों ने टीकाएं और व्याख्याएं लिखीं । परन्तु आज सभी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं । इस पर लिखी गई टीकाओं में जिनसागर कृत **'ढुण्ढिका,'** देवेन्द्र सूरि कृत **'हेमलघुन्यास,'** विनयविजय गणि कृत **हैमलघुप्रक्रिया'** तथा मेघविजय कृत **'हैमकौमुदी'** प्रसिद्ध हैं ।

इस ग्रन्थ में सभी भाषाओं का समावेश करने की विशेषता इसे पाणिनि परम्परा के प्रक्रिया ग्रन्थों से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करती है । आचार्य हेमचन्द्र केवल महावैयाकरण और दार्शनिक या काव्यकार ही नहीं थे, अपितु संस्कृत प्राकृत के साथ अपभ्रंश को भी बृहत् भाषा परिवार का अङ्ग मानने वाले वे पहले व्यक्ति थे। उनकी इसी मान्यता ने एक नई विचार-धारा को जन्म दिया तथा उनके व्याकरण ने अत्यन्त प्रचार और प्रसार प्राप्त किए ।

सारस्वत सम्प्रदाय
THE SĀRASVATA SCHOOL

परिचय एवं कालः—वैयाकरण सम्प्रदाय में एक जनश्रुति प्रसिद्ध है कि सारस्वत व्याकरण के प्रथम रचयिता **अनुभूतिस्वरूपाचार्य** थे, जिन्हें सरस्वती देवी ने स्वप्न के व्याकरण का ज्ञान प्रदान किया था । इसीलिए इस व्याकरण का नाम सारस्वत व्याकरण हुआ, किन्तु श्री युधिष्ठिर मीमांसक ओर वेल्वल्कर सारस्वत प्रक्रिया के क्षेमेन्द्र टीकाकार और **अमृतभारती** तथा **विट्ठलाचार्य** का साक्ष्य देते हुए यह सिद्ध करते हैं कि सारस्वत व्याकरण के आदि रचयिता **अनुभूतिस्वरूपाचार्य** नहीं थे अपितु नरेन्द्राचार्य थे । यद्यपि इस व्याकरण के अन्त में '**अनुभूतिस्वरूपाचार्य विरचिते**' पाठ मिलता है परन्तु इसका प्रथम श्लोक—

प्रणम्य परमात्मानं बालधीवृद्धिसिद्धये।
सस्वतीमृजुं कुर्वे प्रक्रियां नातिविस्तराम्।।

यह सिद्ध करता है **अनुभूतिस्वरूपाचार्य** इसका रचयिता नहीं अपितु संक्षेपण और प्रक्रिया को सरल बनाने वाला है । इसका मूल रचयिता तो **नरेन्द्राचार्य** ही है क्योंकि क्षेमेन्द्र की सारस्वत प्रक्रिया के अन्त में ऐसा उल्लेख मिलता है—

इति श्रीनरेन्द्राचार्यकृते सारस्वते क्षेमेन्द्रटिप्पणं समाप्तम्।

इस समय इस व्याकरण की पूर्ण कृति नहीं मिलती, केवल अनुमानों के आधार पर कुछ तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं ।

अनुभूतिस्वरूपाचार्य का समय 1250 ई० से 1450 ई० के मध्य माना जाता है । नरेन्द्राचार्य का समय निश्चित नहीं है । मीमांसक जी इनका समय 10वीं शताब्दी मानते हैं जबकि बेल्वल्कर का मत है कि इस व्याकरण के

वैयाकरणों की उत्पत्ति 1250 A.D. से पहले नहीं रखी जा सकती ।

व्याकरण परिचय–सारस्वत व्याकरण को लघुता एवं सरलता की दृष्टि से संस्कृत व्याकरण क्षेत्र में अनुपम कृति माना जाता है। इसको प्रक्रिया ग्रन्थ माना जा सकता है । कातन्त्र के बाद इसे ही सर्वप्रथम प्रक्रिया ग्रन्थ माना जाता है । इसमें कातन्त्र पद्धति का अनुसरण किया गया है। इसमें 700 सूत्र हैं। प्रत्याहार सूत्रों को इत्यर्थक वर्णों से रहित करके पढ़ा गया है। इसके पहले आधे भाग में तो उसी क्रम को स्वीकार किया गया है जो बाद के प्रक्रिया ग्रन्थों में अपनाया गया है जैसे–**संज्ञा, संधि, षड्लिङ् अव्यय** प्रकरण । उत्तरार्ध में **स्त्रीप्रत्यय, कारक समास** ओर **तद्धितादि** के क्रम से प्रकरणों को रखा गया है जो कि प्रक्रिया ग्रन्थों से भिन्न है । यह परवर्ती प्रक्रिया ग्रन्थों का मूलाधार रहा है । इसके सूत्रों की भाषा प्रायेण सरल है । पारिभाषिक शब्दों का चयन इस प्रकार हुआ है, जो वैयाकरणों में या तो पूर्ण रूप से प्रसिद्ध है या जिसका अर्थ सरल एवं स्पष्ट है जैसे **सवर्ण सन्ध्यक्षर** इत्यादि । वैदिक अनियमितताओं और स्वरों को इस व्याकरण में कोई स्थान नहीं मिला है । उणादि का यहाँ विस्तार से वर्णन है । यह व्याकरण पाणिनीय परम्परा से बिल्कुल भिन्न पद्धति का अनुसरण करता है । यह इस उदाहरण से स्पष्ट है जो शायद उन्होंने प्रातिशाख्य परम्परा से लिया है–**'प्रगृह्य'** प्रकरण मूल रूप से संधि का विषय है । फिर भी पाणिनीय परम्परा के प्रक्रिया ग्रन्थों में **'स्वर संधि'** के अङ्ग के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है जबकि प्रातिशाख्यों में संधि प्रकरण में इसका अत्यधिक महत्त्व है । इसको देखते हुए यह सिद्ध होता है कि इस व्याकरण का मूलाधार पाणिनि से पूर्ववर्त्ती प्रातिशाख्य परम्परा का है ।

सारस्वत व्याकरण का उद्देश्य लोगों को व्याकरण शास्त्र का पांडित्य प्रदान करना नहीं था, परन्तु प्रारम्भिक अध्येताओं को सामान्य, ज्ञान प्रदान करना था। यह अपनी सरलता के कारण इतना प्रसिद्ध हुआ कि मुसलमान शासक **गयासुद्दीन खिलजी सलेमशाह** तथा **जहाँगीर** ने भी इसके अध्ययन अध्यापन में पर्याप्त रुचि दिखलाई ।

इस व्याकरण पर अनेक टीकायें लिखी गई जिनमें क्षेमेन्द्र (टिप्पण) **धनेश्वर (चिन्तामणि) अमृतभारती (सुबोधिनी), पुञ्जराज (प्रक्रिया) सत्य प्रबोध (दीपिका), माधव (सिद्धान्तरत्नावली), चन्द्रकीर्त्ति**

(सुबोधिका या दीपिका), रघुनाथ (लघुभाष्य) मेघरत्न (ढुण्ढिका), वसुदेवमभट्ट (प्रसाद), रामभट्ट (विद्वत् प्रबोधिनी) काशीनाथ भट्ट (भाष्य), सहजकीर्त्ति (प्रक्रिया वार्त्तिक) तथा हंसविजयणि (शब्दार्थचन्द्रिका) उल्लेखनीय है ।

इनके अतिरिक्त कुछ व्याख्याकार भी प्रसिद्ध हैं जिन्होंने सारस्वत की व्याख्याऐं लिखने के साथ ही सारस्वत का रूपान्तर किया । इनमें तर्कतिलक भट्टाचार्य एवं रामाश्रय आचार्य प्रसिद्ध है । अंग्रेज विद्वान् विल्किन ने सारस्वत व्याकरण को आधार बना कर अपने संस्कृत व्याकरण की रचना की थी ।

बोपदेव सम्प्रदाय
THE BOPADEVA SCHOOL

परिचय एवं काल–इस सम्प्रदाय का व्याकरण तुलनात्मक रूप से सब से बाद का व्याकरण है । इसकी प्रमुख पुस्तक **मुग्धबोध** है। इसके रचयिता **बोपदेव** हैं ।

बोपदेव के पिता केशव अपने समय के प्रसिद्ध वैद्य थे । उनके गुरु का नाम धनेश्वर था जो कि लब्धख्याति वैयाकरण थे । युधिष्ठिर मीमांसक इन्हें वही धनेश्वर मानते हैं जो व्याकरण-महाभाष्य पर **चिन्तामणि** व्याख्या के लेखक हैं । इनके पिता और गुरु **वरदा** नदी के तट पर स्थित सार्थ नामक गाँव के निवासी थे जो आजकल बनारस जिले में पड़ता है परन्तु **बोपदेव** का जन्म दौलताबाद (दक्षिण) के समीप किसी स्थान पर हुआ था । उस समय दौलताबाद देवगिरि के यादवों के अधिकार में था । यादव नरेश महादेव के मन्त्री हेमाद्रि इनके आश्रयदाता थे जिसका समय 1260-1271 ई० माना जाता है । बोपदेव का वर्णन मल्लिनाथ द्वारा विरचित **कुमारसम्भव** की टीका में भी पाया जाता है । इसका रचना काल 14वीं शताब्दी माना जाता है । इन्हीं तथ्यों के आधार पर बोपदेव का काल 13 वीं, 14 वीं शताब्दी के मध्य माना जाता है ।

व्याकरण-परिचय–अब तक के संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पाणिनीय व्याकरण को अधिक स्पष्ट और सरल बनाने के लिये अनेक प्रयत्न किये गये । उन्हीं प्रयत्नों में से बोपदेव का **मुग्धबोध** भी संस्कृत-अध्येताओं के लिये एक सौभाग्य था । इस व्याकरण को संस्कृत के अद्यावधि उपलब्ध समस्त व्याकरणों में सबसे अधिक सरल माना गया है । बोपदेव ने **'कविकल्पद्रुप'** नामक एक धातु

पाठ की भी रचना की थी तथा उस पर **'कामधेनु'** नाम की टीका भी लिखी थी । उनको **शतश्लोकों** (वैद्यक ग्रन्थ) तथा **मुक्ताफल, हरिलीला-विवरण** आदि अनेक ग्रन्थों का लेखक माना जाता है । बोपदेव का काल ऐसा काल था जिसमें पाणिनीय-सम्प्रदाय के व्याख्याकार व्याकरण को सरल बनाने के प्रयत्न में उसे और अधिक कठिन बनाते जा रहे थे, तथा पाणिनि से भिन्न सम्प्रदाय के वैयाकरण उसे पूर्वाग्रहों, सकीर्णता एवं साम्प्रदायिक भावनाओं से मुक्त नहीं कर पा रहे थे । ऐसी डावांडोल स्थिति में संस्कृत व्याकरण को एक नई दिशा की आवश्यकता थी । इस आवश्यकता को बोपदेव ने संस्कृत व्याकरण में संक्षेप एवं सरलता लाकर पूरा करने का भरसक प्रयास किया, जिसमें उसे पर्याप्त सरलता मिली । बोपदेव ने अपने विषय के प्रस्तुतीकरण में कातन्त्र-व्याकरण की पद्धति को अपनाया है । पाणिनि की पारिभाषिक शब्दावलि एवं प्रत्याहारों को ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया अपितु उनमें यथेष्ट परिवर्तन भी किये हैं । वैदिक-प्रकरण एवं स्वर-नियमों को पूर्णरूपेण तिलाञ्जलि दे दी है । वैदिक विशेषताओं को एक ही सूत्र **बहुल ब्रह्मणि** में निबद्ध कर दिया है जिसके लिये पाणिनि को अनेक **बहुलं छन्दसि** सूत्रों का निर्माण करना पड़ा है । सभी वैदिक विशेषताओं को एकत्र करके उनका एक ही सूत्र के द्वारा निपटारा कर बोपदेव ने संसार को चकाचौंध अवश्य कर दिया है। जिसे पाणिनि जैसे वैयाकरण धुरन्धर भी नहीं कर पाये । इस व्याकरण की अन्य विशेषता धार्मिक तत्त्वों का समावेश भी है । अपने सूत्रों के उदाहरणों में बोपदेव **राम, हर, हरि** आदि देवताओं के नाम देते हैं । बोपदेव के तकनीकि नियम पाणिनि से भिन्न दिखाई देते हैं, जैसे धातु के लिये **'धू'** वृद्धि के लिये **'वृ'** **शानच्** के लिये **ज्ञान** तथा **सर्वनाम** के लिए **श्रि** का प्रयोग करते हैं । यह पद्धति पाणिनीय विद्यार्थियों को विचलित करने वाली है । क्योंकि प्राचीन लेखकों और आलोचकों ने पाणिनीय व्याकरण का अनुकरण किया है । इसके विपरीत बोपदेव का व्याकरण पाणिनि से भिन्न था । इसी हेतु इसका भारत से सभी भागों में प्रचार नहीं हो सका, पुरपि, मराठा, साम्राज्य तथा पाणिनीय व्याकरण के जीणोद्धार के युग से पूर्व तक वह पर्याप्त प्रसिद्ध रहा है—इसमें कोई संशय नहीं । इसी तथ्य को भट्टोजिदीक्षित ने निम्न रूप में मनोरमा में स्वीकार किया है—

बोपदेवमहाग्राहग्रस्तो वामनदिग्गजः ।
कीर्त्तिदेव्रपसङ्गेन माधवेन विमोचितः ॥

मुग्धबोध की लोकप्रियता इससे भी ज्ञात होती है कि अल्प समय में ही उसके अनेक टीकाकार हुये हैं, जिसमें **नन्दकिशोर भट्ट**, **प्रदीपकार**, **रामानन्द**, **देवीदास**, **काशीश्वर**, **विद्यावागीश**, **रामभद्र विद्यालङ्कार**, **भोलानाथ**, **दुर्गादास विद्यावागीश**, **श्रीरामशर्मा**, **श्रीकाशीश**, **गोविन्दशर्मा**, **श्रीवल्लभ**, **कार्त्तिकेय**, **मधुसूदन** आदि प्रसिद्ध हैं। इन लेखकों के अधिकतर हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के हस्तलेख संग्रहालय में सुरक्षित हैं । विभिन्न लेखकों ने इस व्याकरण के परिष्टि भी लिखे है उनमें से प्रसिद्ध **नन्दकिशोर**, **काशीश्वर रामतर्कवागीश** हैं। बेल्वल्कर के मतानुसार रामचन्द्र तर्कवागीश ने सं० 1745 में परिभाषा पाठ की वृत्ति की भी रचना की थी ।

जौमर सम्प्रदाय
THE JAUMARA SCHOOL

परिचय एवं काल—इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य **क्रमदीश्वर** माने जाते हैं परन्तु इस सम्प्रदाय का नामकरण आचार्य **जुमरनन्दी** के नाम पर हुआ है । आचार्य **क्रमदीश्वर** ने **संक्षिप्तसार** नाम व्याकरण की रचना की थी । **जुमरनन्दी** ने उस व्याकरण को संक्षिप्त एवं पारिमार्जित किया तथा उस पर सरस्वती नाम की अत्यन्त सारगर्भित व्याख्या लिखी, जो अत्यन्त प्रसिद्ध हुई । इसी व्याकरण के कारण यह सम्प्रदाय **जौमर** के नाम से जाना जाने लगा । इस तथ्य की पुष्टि निम्नलिखित पङ्क्ति से होती है जो संक्षिप्तसार के **हस्तलेखों** के अन्त में पाई जाती है ।

इति वादीन्द्रचक्रचूडामणिमहापण्डितश्रीक्रमदीश्वरकृते संक्षिप्तसारे महाराजाधिराजजुमरनन्दिशोधितायां वृत्तौ रसवत्याम्॥

इन पङ्क्तियों से यह भी स्पष्ट होता है कि जुमरनन्दी किसी प्रदेश के शासनाध्यक्ष थे। वे किस प्रदेश के शासनाध्यक्ष थे— यह अभी तक इतिहास शोधकर्त्ताओं के लिए मृगमरीचिका बनी हुई है, तथा क्रमदीश्वर का इतिवृत्त भी इतिहास वेत्ताओं के लिए एक चुनौति बना हुआ है । दोनों के इतिवृत्त एवं कालादि के विषय में ऐतिहासिक सामग्री का अभाव होने के कारण कुछ भी कहना साहस मात्र होगा । ऑफ्रेख्त महोदय ने **जौमर सम्प्रदाय को बोपदेव सम्प्रदाय** से प्राचीन माना है, परन्तु कोलब्रुक महोदय ऑफ्रेख्त से असहमति प्रगट करते हुए **जौमर सम्प्रदाय** को अर्वाचीन मानते हैं। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने आचार्य क्रमदीश्वर का समय वि०सं० 1300 से पूर्व स्वीकार किया है ।

व्याकरण-परिचय–

श्री बेल्वल्कर के मतानुसार आचार्य क्रमदीश्वर का **संक्षिप्तसार** यथार्थ रूप में पाणिनीय अष्टाध्यायी का ही संक्षेप था, जिसका निर्माण भर्तृहरि की महाभाष्य दीपिका के आधार पर हुआ प्रतीत होता है। आचार्य क्रमदीश्वर ने अपने व्याकरण के अधिकांश उदाहरण भट्टिकाव्य से लिये थे। क्रमदीश्वर का ध्येय पाणिनीय व्याकरण के आधार पर एक नवीन व्याकरण प्रस्तुत करना था जो उस (पाणिनीय व्याकरण) की अपेक्षा संक्षिप्त एवं सरल हो। क्रमीश्वर ने अपने व्याकरण की रचना में पाणिनि से भिन्न नवीन पद्धति को अपनाया है। उन्होंने पाणिनि के कठिन तथा बहुत अधिक महत्त्व न रखने वाले सूत्रों का सर्वथा परित्याग कर दिया है। अधिकांश में पाणिनीय सूत्रों में यथासम्भव परिवर्तन करके उन्हें अपने व्याकरण में नवीन रीति से समाविष्ट किया है। अतः कहना न होगा कि यह व्याकरण प्रक्रिया ग्रन्थों की रचना से पूर्व अपने ढङ्ग का एक निराला व्याकरण था। इस व्याकरण में कुल मिलाकर आठ पाद हैं। प्रथम सात पादों में क्रमशः–**सन्धि, तिङन्त, कृदन्त, तद्धित, कारक, सुबन्त और समासों** का वर्णन है, आठवें पाद में **प्राकृत भाषा** का विवेचन है, जो बेल्वल्कर के मतानुसार प्रक्षिप्त है।

सम्प्रदि यह व्याकरण उसके परिष्कर्त्ता **जुमरनन्दी** के नाम पर **जौमर** नाम से जाना जाता है। जौमर व्याकरण का पठन पाठन आजकल भी पश्चिमी बङ्गाल के कुछ हिस्सों में प्रचलित है। कतिपय लेखकों ने **जुमर** शब्द का सम्बन्ध **जुलाहा** से लगया है।

अन्य व्याख्याकार–

गोपीचन्द्र की टीका का व्याकरण में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है तथा जिस पर अनेक उत्तरवर्ती आचार्यों ने व्याख्यायें लिखी हैं। पञ्चम (कारक) पाद पर इस व्याकरण का सब से अधिक योगदान माना जाता है। अन्य सम्प्रदाय के विद्वान् भी वाक्य का यथार्थ एवं सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए, इसका अध्ययन करते हैं। गोपीचन्द्र ने अपने लिये **औत्थासनिक** शब्द का प्रयोग किया है–जिसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है–**उत्थायासनं दीयते राजादिभिरिति। अन्यमुद्दिश्य राज्ञा नाभ्युत्थीयते।**

अस्मै आसनमपि दीयते इत्याधिक्यमस्ति । ऐतिहासिक सामग्री का अभाव होने के कारण **औत्थासनिक** शब्द से क्या अभिप्रेत है–कुछ नहीं कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त गोपीचन्द्र ने **उणादिपाठ** एवं **पारिभाषिक** पर भी टीकायें लिखी हैं । गोपीचन्द्र की टीका पर कुछ विद्वानों ने व्याख्यों लिखी है जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय है–**न्याय पञ्चानन, तारक पञ्चानन, चन्द्रशेखर विद्यालयङ्कार, वंशीवादन, हरिराम, गोपाल चक्रवर्ती इत्यादि।**

सोपद्म सम्प्रदाय
THE SUPADMA SCHOOL

परिचय एवं काल–

इस सम्प्रदाय का श्रीगणेश **सुपद्म** नाम की लघ्वी व्याकरण पुस्तिका से होता है । इसके लेखक मिथिला के निवास **पद्मनाभदत्त** थे । इनके पिता का नाम दामोदर दत्त तथा दादा का नाम श्रीदत्त और बेल्वल्कर के मतानुसार **सुपद्म व्याकरण** के कर्त्ता **पद्मनाभदत्त और पृषोदरादिवृत्ति** के लेखक **पद्मनाभदत्त** दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे । परन्तु बेल्वल्कर ने दोनों को समकालीन स्वीकार किया है । **पृषोदरादिवृत्ति** की मूलप्रतिलिपि देखने से यह विदित होता है कि इसकी रचना शक 1297 में हुई थी जो ई० सं० के अनुसार 1375 A.D. बैठत है। इसी प्रमाण के आधार पर बेल्वल्कर ने **सुपद्म** व्याकरण के रचयिता **पद्मनाभदत्त** का समय भी चौदहवीं का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया है ।

व्याकरण परिचयः–

सुपद्मनाभदत्त ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि उसकी रचना का आधार पाणिनीय व्याकरण ही है । पाणिनीय व्याकरण से इन्होंने महती सहायता ली है । इस व्याकरण की परिभाषिक शब्दावलि पर पाणिनीय अष्टाध्यायी की गहरी छाप है । अनेक प्रत्याहारों, सूत्रों को या तो ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है अथवा कुछ थोड़ा बहुत परिवर्तन करके उसे अपने व्याकरण में समाविष्ट कर लिया है । जैसे पाणिनीय सूत्र **आदिरन्त्येन सहेता** के स्थान पर **आदिरितान्त्येन समध्यः** सूत्र मिलता है। इस प्रकार के अनेक सूत्र है जिन पर पाणिनि की छाप स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। यह व्याकरण पाँच अध्यायों में विभक्त है । **प्रथम अध्याय** में **संज्ञा** एवं

सन्धि, **द्वितीय अध्याय** में **कारक** एवं **सुबन्त**, **तृतीय अध्याय** में **आख्यात**, **चतुर्थ अध्याय** में **कृत्** एवं **उणादि**, तथा **पञ्चम अध्याय** में **तद्धित** का वर्णन है । पाणिनीय शब्दावलि का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होने के कारण इस व्याकरण के अध्येताओं को पाणिनीय व्याकरण पढ़ने में भी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता ।

जबकि **बोपदेवादि** व्याकरण के अध्येताओं को यह सुविधा प्राप्त नहीं, उस व्याकरण में पाणिनि से भिन्न शब्दावलि को ग्रहण किया गया है ।

सपुद्मनाभदत्त अन्य अनेक ग्रन्थों के रचयिता माने जाते हैं । उन्होंने स्वयं को **उणादि वृत्ति धातुपाठ** ओर **परिभाषावृत्ति** का लेखक भी उद्घोषित किया है । परिभाषावृत्ति के अन्त में उन्होंने अपने अन्य व्याकरण कार्यों की ओर संकेत किया है । **उणादिवृत्ति** में उन्होंने एक विशेष योजना को अपनाया है तथा इसे दो भागों में विभक्त किया है **प्रथम भाग** में **स्वरान्त प्रत्ययों** का तथा **द्वितीय भाग** में **व्यञ्जनान्त प्रत्ययों** का वर्णन है, सभी प्रत्यय अकारादि क्रम से दिये गये हैं। इनका **धातुपाठ** पाणिनीय धातुपाठ की भाँति भ्वादि अदादि गणों में विभक्त है तथा स्वयं **पद्माभदत्त** ने धातुपाठ पर **धातुनिर्णय** नाम की टीका भी लिखी है । इस व्याकरण का एक **गणपाठ** भी उपलब्ध है जिस पर रमाकान्त की टीका है । इस व्याकरण सम्प्रदाय से सम्बन्धित कुछ कार्य **समास** तथा **कारक** पर भी मिलते हैं ।

पद्मनाभदत्त ने अपने व्याकरण पर **सुपद्मपञ्चिका** नाम की व्याख्या भी लिखी थी । कुछ अन्य भी लेखक हुये है जिन्होंने इस सम्प्रदाय की व्याख्यायें लिखी हैं । कोलब्रुक के मतानुसार **कन्दर्पसिद्धान्त**, **काशीश्वर**, **श्रीधरचक्रवर्ती**, **रामचन्द्र**, एवं **विष्णुमिश्र** विशेष महत्त्व रखते हैं। इन व्याख्याकारों में **विष्णुमिश्र** की **सुपद्ममकरन्द** नाम की व्याख्या विशेष उल्लेखनीय है ।

आजकल इस सम्प्रदाय का प्रचलन मध्य बङ्गाल में चौबीस प्रगना के जैसोर, खुलना और भरतपुर आदि स्थानों पर पाया जाता है ।

कुछ ग्रन्थ वैयाकरणः–

कुछ ग्रन्थों में यत्र तत्र कतिपय वैयाकरणों के मतों का उल्लेख मिलता है, परन्तु उनके व्याकरण उपलब्ध नहीं, तथा उनका इतिवृत्त भी ज्ञात नहीं। इस अवस्था में उनके विषय में लिखना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। पुनरपि उनका नाम निर्देश करना हम अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं, वे हैं–**क्षपणक, वामन, भट्ट अकलङ्क, शिवस्वामी, बुद्धिसागर सूरि, भद्रेश्वर सूरि** इत्यादि।

साम्प्रदायिक व्याकरण
THE SECTARIAN SCHOOL

पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुछ सामप्रदायिक व्याकरणों की रचना हुई। इनका मुख्य विषय **हरिनाम-स्मरण** आदि ही रह गया, तथा व्याकरण विषय से पृथक् होते चले गये । इनके प्रयोग सभी उदाहरण साम्प्रदायिक नामों से ओतप्रोत हैं इनको वैष्णवों तथा शैवों के व्याकरण भी कहा जाता है ।

हरिनामामृत सम्प्रदाय–यह वैष्णवों का सम्प्रदाय है । इसमें **चैतन्य** के प्रधान शिष्य **रूपगोस्वामी** को माना जाता है । इस व्याकरण की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें राधा और कृष्ण के नामों एवं उपनामों ने व्याकरण के पारिभाषित शब्दों का स्थान ले लिया है । तथा इसका मुख्य सिद्धान्त है–

साङ्केत्यं परिहासं वा स्तोत्रं हेलनमेव च ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः।।

हरिनामामृत–नाम का एक दूसरा व्याकरण भी इस सम्प्रदाय में मिलता है जिसके लेखक जीव गोस्वामी माने जाते हैं। परन्तु इस व्याकरण में पूर्वव्याकरण से कोई विशेष भेद नहीं है । इस सम्प्रदाय का तीसरा व्याकरण **चैतन्यामृत** है, जिसके लेखक के विषय में ऐतिहासिक सामग्री का पूर्णरूपेण अभाव होने के कारण कुछ लिखना कठिन है । इन पर दो व्याख्यायें भी मिलती हैं, परन्तु उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है । ये व्याकरण बहुत संकुचित मनोवृत्ति के प्रतीक है तथा बङ्गाल के कुछ ही वैष्णव परिवारों में पढ़े-पढ़ाये जाते हैं । विषयवस्तु की दृष्टि से इनमें भक्ति भावना की प्रधानता है तथा व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान पग पग पर लड़खड़ाता दिखाई देता है ।

प्रबोधप्रकाश-सम्प्रदाय–

यह व्याकरण सम्प्रदाय शैवों तथा शाक्तों का माना जाता है । इसका प्रधान ग्रन्थ **प्रबोधप्रकाश** है । इसके रचयिता **बलराम पञ्चानन** है । **धातुप्रकाश** का भी रचयिता इनको माना जाता है । इनका इतिवृत्त भी तमसावृत है । इस व्याकरण में **शिव** तथा **शक्ति** के नामों एवं इनके पर्यायवाची शब्दों ने व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का स्थान ले लिया है । जैसे–**अमृड्शम्भूनां रुद्रो प्रथमः** इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है–**मृड्वर्जशम्भूनां वर्णानां स्थाने प्रथमवर्ण स्याद्रुद्रे परे** । व्याकरण के प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से यह ग्रन्थ भी सारहीन है ।

अतः सारांश रूप में कहा जा सकता है कि वैष्णवों तथा शैवों के व्याकरण, व्याकरण ज्ञान कराने के लिए नहीं, अपितु देवी देवताओं का स्मरण भक्ति भावना का परितोष कराने के लिए रचे गये प्रतीत होते हैं। व्याकरण ज्ञान इनके कदापि सम्भव नहीं है ।

कुछ अन्य व्याकरण ग्रन्थ

पूर्व वर्णित व्याकरणों के अतिरिक्त कुछ और भी व्याकरण हैं जो आधुनिक युग की रचनायें कहे जा सकते हैं। ये नाममात्र के व्याकरण हैं। इनका पठन-पाठन भी नहीं होता। परन्तु व्याकरण शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से इनकी उपेक्षा करना भी उचित नहीं है। जिन वैयाकरणों के व्याकरण उपलब्ध हैं, वे इस प्रकार है-**प्रबोधचन्द्रिका-विज्जलभूपति कृत, भोज व्याकरण-विनयसुन्दरकृत, भावसिंहप्रक्रिया**-विनायक कृत, **बालदीप व्याकरण**-चिद्रूपाश्रमकृत, **कारिकावलि**-नारायणसुरनन्द कृत, **बालबोधव्याकरण**-नरहरिकृत, **चिन्तामणि व्याकरण**-शुभचन्द्रकृत, **द्रुतबोधव्याकरण**-भरतसेनकृत, **आशुबोध व्याकरण**-रामकिङ्कर कृत, **शुद्धाशुबोधव्याकरण**-रामेश्वर कृत, **शीघ्रबोधव्याकरण**-शिवप्रसाद कृत, **ज्ञानामृत व्याकरण**- काशीश्वर कृत इत्यादि। ये व्याकरण अत्यन्त निम्नकोटि के है अतः ये पृथक् विवेचन की आवश्यकता नहीं रखते। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने भी संस्कृत व्याकरणों की रचनायें की है; परन्तु, उनमें मौलिकता का सर्वथा भाव है, अतः अनुल्लेख्य ही समझे जायेंगे।

लेखक की पूर्वकृति 'The language of the Atharva-Veda' पर कुछ सम्मतियाँ

The work 'The language of the Atharva-Veda' done by me is highly appleauded by the national and international scholars. Their views are as under :—

THE HINDU : 19-07-1979

LANGUAGE OF THE ATHARVA-VEDA : By Yajan Veer; Inter-India Publication, 105, Anand Nagar, Delhi–110035 Rs. 75.

Studies in the Atharva-Veda are not many as those in the Ṛg-Veda. Especially an in-depth study in the language of this text has so far remained a desideratum. It is made for the first time that a work like the present one is available. Dr. Yajan Veer deals with the Phonology, Sandhi, declension, conjugation, compounds syntax and accent in a scholarly manner. His grounding in the Paninian grammar, the Pratisakhyas as well as familiarity with methods of modern Philological research have stood him in good stead. His comparisons of usages the in Ṛg-Veda and the Atharva-Veda are highly interesting. One looks forward by further studies by the author in the field of Vedic Studies.

M.P.P.

ASSAM TRIBUNE 29-07-1979

The Persent work which appears to be doctoral

dissertation, is a welcome addition to the modern works on the various aspects of the Vedic language. The author has undertaken a detailed study of the language of the Atharva-Veda with all the important aspects including Phonology, euphonic combintation, declension, compounds, conjugations, suffixes, synteax and accent. The treatment is scholarly and the work is profusely documented. there is an impressive bibliography. On the whole, the book will be useful to those interested in Vedic studies.

DECCAN HERALD 22-07-1979. says it is an *'Independent system'*:—

.... The text of this corpus was published as early as 1856 by Roth and Whitney; and since then, severatal aspects of the text have been studied. This is the first time, however, the attention has been focussed on its language ... The major difficulty in such a study is one of equipent : the student must have mastery over the Prātśākhyas and the Pāṇinian grammar, and must be thoroughly conversant with vedic commentaries and glosses as well as modern linguistic analysis. This is a rare equipment. It is gratifying, therefore, to find that here is a student so equipped ... The work has been accomplished with gerat care, and this grammatical study will be found by Vedic students useful and rewarding.

THE SUNDAY STANDARD : Nov 25, 1979.

.... Very few scholars have subjected it to critical research. Dr. Y. Veer's thesis analyses the languages of this Veda in all its grammatical aspects such as Phonology, Sandhi, declension, conjugations, compounds, suffixes, synteax and accent. He has illustrated all the rules he has quoted with suitable examples, properly accented

and furnished with references. . . . The book is a welcome and useful addition to all Vedic researches, especially to decide which portion is this Veda can claim a higher antiquity then the RV. S.R. Iyer.

GLORY OF INDIA : Vol. III No. 1. March 1979 Page-23

Since the publication of the Atharva-Veda by Roth and Whitney in 1856, it has been subjected to various types of studies—interpretative, historical, religious and cultural. But a comparative study embraching all the aspects of the language of the Atharva- Veda has so far remained untouched. The present work is a grammatical study of language of the fourth Veda. Though mainly concerned with Śaunaka recension of the Atharva-Veda, the author has also taken note of the linguistic peculiarities found in the Paippalāda recension.

The author has taken great pains to make a comprehensive and scholarly study of this important Hindu Scripture contributing in no small measure to the field of language and linguistics.

The Language of the Atharva Veda by Dr. Yajan Veer, a promising young vedic scholar and resing orientalist is a welcome publication. It deals with various aspects of the language of the Atharva-Veda of the Śaunaka recensin. It can be safely used as book on the grammar of this Veda. It is highly meritorius work and gives ample evidence of the author's capacities of careful collection, sifting and analysing large and scattered material. The treatment is critical and impartial. I am confident the work will receive due recognition in the hands of scholars.

(Sd/-Dr. S.K. Gupta),
(Retd) Professor & Head
Dept. of Sanskrit,
Jaipur University,
Rajasthan.